अस्तेय दर्शन

प्रवचनकार : राष्ट्र सन्त उपाध्याय अमर मुनि
सम्पादक : पं. विजय मुनि शास्त्री, साहित्य रत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्मति-साहित्य-रत्न-माला का २९वाँ पुष्प

अस्तेय-दर्शन

प्रवचनकार

उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादक

शास्त्री विजय मुनि

प्रकाशक

सन्मति-ज्ञान-पीठ, आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक :
अस्तेय-दर्शन

प्रवचनकार :
राष्ट्र-संत उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादक :
शास्त्री विजय मुनि, साहित्यरत्न

विषय :
स्तेय-वृत्ति अर्थात् चोरी

संस्करण :
द्वितीय, ३० सितम्बर, १९९४

मूल्य :
बीस रुपये मात्र

प्रकाशक :
सन्मति - ज्ञान-पीठ, आगरा

मुद्रक :
प्रेमचन्द जैन द्वारा प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,
१/११, साहित्य कुंज, महात्मा गाँधी मार्ग, आगरा-२ में मुद्रित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगरा के भूतपूर्व नगर-प्रमुख सेठ कल्याणदास जी जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर्गस्थ आत्मा, लाला कल्याणदास जी जैन, भूतपूर्व मेयर, आगरा की पुण्य - स्मृति में

उनके ज्येष्ठ पुत्र ओम प्रकाश जी ने तथा उनके पौत्र अनन्त कुमार ने एवं राजीव कुमार ने अस्तेय-दर्शन का पूरा अर्थ सहयोग देकर, सुन्दर प्रकाशन कराया है, तदर्थ भूरिशः धन्यवाद है।

लाला कल्याणदास जी अपने युग के एक महान् व्यक्ति थे। इन पर सरस्वती और लक्ष्मी, दोनों की अपार कृपा थी। अपने व्यापार में कुशल, व्यवहार में मधुर और समाज तथा राष्ट्र-सेवा में निपुण व्यक्ति थे। आगरा के निरन्तर पाँच बार मेयर बनकर कीर्तिमान स्थापित किया। यह उनके जीवन की अभूतपूर्व सफलता थी। मेयर पद पर रहकर उन्होंने आगरा की जनता की खूब सेवा की और अनेक निर्माण कार्य भी कराए। उनके द्वारा किए गए सुधार, आज भी उनकी स्मृति को ताजा बनाए हुए हैं। आगरा नगर के इतिहास में, वे सदा अमर रहेंगे।

परम पूज्य, ज्योतिर्धर व्यक्तित्व, परमगुरु, श्रद्धेय रत्न चन्द्र जी महाराज की सन् १९६४, दिनांक २४, २५, २६ मई को जो शताब्दी का विशाल आयोजन किया गया था, उसका सारा प्रबन्ध लाला कल्याणदास जी के हाथ में था। उस शुभ अवसर पर मदिया कटरा से लेकर पंचकुइयां तक के मार्ग का नाम रतन मुनि मार्ग रखा गया था।

२० जून, १९९४

– विजय मुनि शास्त्री
आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

साधु महासम्मेलन की पूर्व भूमिका के रूप में, सम्प्रदाय-गत वैमनस्य और विरोध के उपशमन हेतु, बम्बई स्थित स्थानकवासी जैन महासभा के आग्रह से तथा विशेषतः व्यावर संघ की अत्यन्त भाव भरी प्रार्थना से (तत्कालीन उपाध्याय) श्रद्धेय पं. मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज आगरा से देहली होते हुए उग्र विहार करके व्यावर पधारे, चातुर्मास के लिए।

कवि श्री जी स्थानकवासी समाज के सुप्रसिद्ध लेखक, कवि और विचारक तो हैं ही, परन्तु वक्तृत्व गुण भी उनमें सहज रूप में ही विद्यमान है। आपके प्रवचनों में वस्तु का दार्शनिक रूप से सूक्ष्म विश्लेषण होते हुए भी सरसता और मधुरता पर्याप्त रूप में रहती है। श्रोता कभी ऊबता नहीं है। और यही है, प्रवक्ता के प्रवचनों की सफलता, जिसमें कवि श्री पूर्णतः सफल और सिद्ध हस्त हैं।

राजस्थान में यद्यपि कवि श्री जी नए ही थे, परन्तु उनके प्रवचनों की सरलता, मधुरता, स्पष्टता तथा हृदय-ग्राहिता ने श्रोताओं को सहसा रस-मुग्ध कर दिया। अतएव व्यावर संघ ने प्रवचनों के रूप में बहती हुई अखण्ड वाग्धारा को लिपिबद्ध कराने का शुभ संकल्प किया, जिसका सुफल प्रस्तुत पुस्तक के रूप में जनता के सामने है।

पाठकों के समक्ष, कवि श्री जी की उक्त व्यावर-प्रवचन माला में से अहिंसा-दर्शन', 'सत्य-दर्शन' और 'जीवन-दर्शन' के रूप में तीन पुस्तकें पहुँच चुकी हैं। अब हमें परिवर्तित, परिवर्धित एवं संशोधित 'अस्तेय-दर्शन' के रूप में यह चौथी पुस्तक भी पाठकों के सम्मुख रखते हुए महान् हर्ष हो रहा है। यह उसका द्वितीय संस्करण है।

कवि श्री जी के प्रवचनों में आप अहिंसा, सत्य और जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ जीवन तत्व प्राप्त कर सके होंगे ? आशा है, अब पाठक 'अस्तेय' के सम्बन्ध में भी आगम-परम्परा पुरःसर नया दृष्टिकोण पढ़ कर अपने जीवन की बहुत-सी उलझी हुई समस्याओं को सुलझा सकेंगे। जीवन सफल करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन करके पाठक समझ लेंगे, कि 'अस्तेय' क्या है ? और जीवन में इस महापाप से कैसे बचा जाए ? काला बाजार और घूंसखोरी से जन-जीवन को क्या क्षति पहुँचती है ? मानव 'अस्तेय-व्रत' की आराधना करके स्तेय-वृत्ति से कैसे बच सकता है ? अपने जीवन को प्रामाणिक रखते हुए वह जन जीवन को कैसे सुधार सकता है ? आदि समस्याओं का दार्शनिक दृष्टि से उचित समाधान, पाठक, इस में पा सकेंगे।

१० सितम्बर, १९९४

ओम प्रकाश जैन
मन्त्री, सन्मति-ज्ञान-पीठ,
आगरा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

तीर्थंकर महावीर की वाणी को द्वादशांगी और गणि-पिटक कहा गया है। प्रश्न व्याकरण की गणना इसी में की है। अतः प्रश्न व्याकरण भगवान् महावीर की मूल वाणी है, उसमें दो विभाग हैं—पञ्च आस्रव द्वार और पञ्च संवर द्वार। आस्रव ये हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह। इनको ही हिंसा, असत्य, चोरी, जारी और परिग्रह कहा गया है। संवर ये हैं—प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण। इनको ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह कहा है।

उपासक दशांग में श्रावक के द्वादश व्रतों का विधान किया है। पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रतों को मिलाकर इन सप्तव्रतों की एक संज्ञा शीलव्रत होती है; अणुव्रतों की संज्ञा मूलव्रत कही है। श्रावक के अणुव्रत, श्रमण के महाव्रत होते हैं। अणुव्रतों को देश व्रत कहते हैं, महाव्रतों को सर्वव्रत कहा है।

उपांग सूत्र औपपातिक में भी श्रावक के द्वादश व्रतों का कथन किया गया है। अणुव्रत हों, या महाव्रत हों, दोनों का समावेश संवर द्वार में होता है। व्रत, यम, नियम, संयम और संवर सब पर्यायवाचक शब्द हैं।

आगमोत्तर काल के आचार्यों ने भी इसी व्यवस्था को स्वीकार कर के अपने ग्रन्थों में श्रावक के द्वादश व्रतों का और श्रमण के महाव्रतों का कथन किया है। क्रम और नामों में परिवर्तन हो सकता है। आगमोत्तर काल के ग्रन्थों में तत्त्वार्थ सूत्र का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। तत्त्वार्थ सूत्र समस्त परम्पराओ को मान्य है, इसकी प्रामाणिकता आगम तुल्य है। वाचक उमास्वाति ने इसमें समस्त आगमों का सार भर दिया है। स्वयं वाचक जी ने अपने सूत्रों पर भाष्य लिखा है। भाष्य पर आचार्य सिद्ध सेन गणि ने महाभाष्य लिखा है, जो अति गम्भीर है।

राष्ट्र सन्त, कविरत्न, उपाध्याय, परम पूज्य गुरुदेव, श्रद्धेय अमर चन्द्र जी महाराज ने राजस्थान के प्रसिद्ध नगर ब्यावर में सन् १९५० में, उपासक आनन्द पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन करते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर विस्तार के साथ प्रवचन दिए थे—जिनका प्रकाशन सन्मति ज्ञान पीठ आगरा में - अहिंसा दर्शन, सत्य दर्शन, अस्तेय दर्शन, ब्रह्मचर्य दर्शन और अपरिग्रह दर्शन के रूप में किया गया था। अस्तेय दर्शन उसी शृंखला की तृतीय कड़ी है। उसका यह द्वितीय संस्करण है, परिवर्तित, परिवर्धित एवं संशोधित।

१० सितम्बर, १९९४ —**विजय मुनि शास्त्री**

जैन भवन

मोती कटरा, आगरा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतुल-सुख-सिद्धि हेतोर्,
धर्मयशश्चरण-रक्षणार्थं च ।
इह-पर-लोक-हितार्थं,
कलयत चित्तेऽपि मा चौर्यम् ॥

– आचार्य शुभचन्द्र

हे भव्य आत्माओ ! यदि तुम अनुपम आत्म-सुख प्राप्त करना चाहते हो, धर्म, यश, एवं चरित्र-सम्पत्ति की रक्षा करना चाहते हो, और लोक तथा पर-लोक सम्बन्धी अपना हित-साधन करना चाहते हो, तो कभी भूलकर मन में भी चोरी को प्रश्रय-स्थान न दो। चोरी एक महापातक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१.	अस्तेय-व्रत की भूमिका	१
२.	संस्कृति का संदेश-वाहक	१२
३.	सर्वोदय का मूल मन्त्र	२६
४.	विवेक परम धर्म	४३
५.	अस्तेय का विराट रूप	५५
६.	समस्या और समाधान	७०
७.	परिवर्तन ही जीवन	८४
८.	अस्तेय और भ्रष्टाचार	८९
९.	गाँधीजी का रामराज्य	९७
१०.	मानव और पशु : एक भेदरेखा	१०५
११.	हिंसा-अहिंसा विवेक-सूत्र	१११
१२.	जाति-विहीन भारतीय जन-जीवन एक है	११६
१३.	राष्ट्र चेतना का मूल : त्याग में है, भोग में नहीं	१२४
१४.	मानव तन है या मन ?	१३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ अस्तेय-व्रत की भूमिका

अहिंसा और सत्य के बाद अस्तेय का नम्बर आता है। अस्तेय का अर्थ है, अचौर्य। आप जानना चाहेंगे, अचौर्य क्या है ? अचौर्य का सीधा-सादा अर्थ है, चोरी न करना। बिना आज्ञा के किसी की कोई भी वस्तु न लेना।

सत्य और प्रेम :

अस्तेय की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में सब से बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो साधक साधना के क्षेत्र में उपस्थित हुआ है, उसके मन में अहिंसा और सत्य की सुगन्ध भरी होनी चाहिए। वह अहिंसा और सत्य किस प्रकार सुरक्षित रह सकते हैं और किस प्रकार उनके द्वारा हम अपना और समाज का भी कल्याण कर सकतें हैं, यह इस प्रतिज्ञा की मूल भावना है। इसके लिए बहुत बड़े चरित्र-बल की आवश्यकता है। जब तक चरित्र-बल उत्पन्न नहीं होगा और आन्तरिक जीवन में उल्लास और भावना की जागृति नहीं होगी, तब तक कोई भी नियम जीवन में गति नहीं दे सकता। वह अन्तःस्फुरणा, जो पैदा होनी चाहिए, नहीं हो सकेगी और उस व्रत या प्रतिज्ञा में जो प्रकाश और चमक आनी चाहिए, नहीं आ सकेगी।

अक्सर देखते हैं, नियम तो ले लिया है, व्रत भी अंगीकार कर लिया है और प्रतिज्ञा भी ग्रहण कर ली है, और सब-कुछ हो गया है, किन्तु यह सब-कुछ होने पर भी ऐसा मालूम होता है कि कुछ भी नहीं हुआ है ! क्या बात है कि हम चलते हुए तो दिखाई देते हैं, किन्तु जब अपनी गति को नापना चाहते हैं तो एक इंच भी गति बढ़ती हुई दिखलाई नहीं देती।

साधु भी चलता है और गृहस्थ भी चलता है, और निरन्तर पचास-साठ वर्षों तक, यह चलना जारी रहता है, किन्तु जब इतने लम्बे काल की गति को नापते हैं और विचारों की दृष्टि से ठीक तरह समझना चाहते हैं तो ऐसा मालूम नहीं होता है कि हम कुछ चले भी हैं। जीवन में कोई विकास और प्रगति हुई नहीं दीखती है।

आखिर इसका मूल कारण क्या है ? हमें इस प्रश्न पर गंभीर भाव से विचार करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र के भेद :

बात यह है--एक होता है वाह्याचार और दूसरा होता है आन्तरिक आचार। जैन-धर्म ने जब इस प्रकार आचार की व्याख्या की तो मानव के अन्तर्जीवन और वाह्य-जीवन को ध्यान में रखकर की। मनुष्य का वाह्य-जीवन आप सब के सामने है, अतः उसे अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्तर्जीवन मानव का निगूढ़तम भाव है, जिसकी जानकारी साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर्जीवन अपने इस दृश्य पिण्ड की आड़ में अदृश्य है, छुपा हुआ है और वहीं हजारों भाव-सृष्टियाँ बनाता है और बिगाड़ता है। सृष्टि और प्रलय का उसका यह व्यापार बाहर नहीं दिखलाई देता।

हाँ, तो इस आन्तरिक जगत् में जब तक साधना की भावना नहीं पनपती और ग्रहण किये हुए व्रत या नियम के लिए ठीक तरह चरित्र का बल उत्पन्न नहीं होता तो बाहर के व्रतों और नियमों का क्या मूल्य है ? बाहरी व्रत और नियम तो आन्तरिक आचार की रक्षा के लिए हैं, अन्दर की रक्षा के लिए चहार-दीवारी हैं।

अपने आप में जो दीवारें खड़ी हैं, वे मिट्टी और पत्थर के रूप में खड़ी हैं। यदि उनके अन्दर कुछ भी नहीं है, रिक्तता है, कोई व्यक्ति नहीं है, केवल दीवारें ही दीवारें हैं, तो उनका अपना क्या मूल्य है ? दीवारों का मूल्य तभी है, जब वहाँ सम्पत्ति बिखरी हो और आदमियों की चहल-पहल हो। इनकी रक्षा के लिए ही दीवारें खड़ी की जाती हैं और दरवाजों पर ताले लगाये जाते हैं। यही उन दीवारों की सार्थकता है।

तो जो बात आप यहाँ समझ जाते हैं, वही जीवन के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। जीवन में, अन्दर में, अहिंसा और सत्य के रत्न बिखरे हुए होने चाहिए। जितनी जीवन की साधनाएँ हैं, उनमें एक से एक बहुमूल्य गुण होने चाहिए। उनकी रक्षा के लिए ही बाहर के क्रियाकाण्ड की दीवारें हमें खड़ी करनी हैं। जीवन में यदि तत्त्व है, सत्य है और अन्दर में चारित्र बल है, आध्यात्मिक बल, आध्यात्मिक ऐश्वर्य और आध्यात्मिक साम्राज्य है, तो उनकी कुछ भाव-भंगिमाँ, ठीक-ठीक रूप में, हमारे आन्तरिक जीवन की रक्षा करेंगी।

कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्दर का घर खाली है, अन्दर में कुछ भी नहीं है, किन्तु बाहर बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी हैं ! सिवाय वहम के, घर में कुछ नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार अन्दर में यदि चरित्रबल है और बाहर में व्रत, नियम, उपवास आदि हैं तो वे बहुमूल्य होंगे। मैं उनकी कीमत कम नहीं करना चाहता हूँ। वास्तव में वे बहुमूल्य हैं, किन्तु काम तभी देंगे, जब आन्तरिक चारित्रबल प्रबल होगा।

एक साधारण-सी साइकिल की भी गति-क्रिया होती है और सैकड़ों मील की यात्रा करती चली जाती है। उसके ऊपर आदमी बैठ जाता है और वजन भी रहता है। वह सब को लेकर चलती है। लेकिन यह होता तभी है जब उसके भीतर टयूब में हवा भरी होती है। अन्दर में हवा की शक्ति न हो तो वह गाड़ी चलती नहीं, खड़ी हो जाती है। यदि उसे चलाएँगे तो वह आप को लेकर नहीं चलेगी, आपको घसीट कर चलानी पड़ेगी। जब पंचर हो जाता है, तो हवा समाप्त हो जाती है, और फिर उसे स्वयं घसीट कर चाहे कितनी ही दूर क्यों न ले जाएँ, किन्तु उस में स्वयं चलने की शक्ति नहीं है।

हमारे जीवन की गाड़ी का भी यही हाल है। यदि उसमें अन्दर की साधना है, चरित्र का बल है, तो जीवन ठीक तौर से आगे चलेगा, अग्रसर होगा और हम अपने लक्ष्य पर पहुँच जाएँगे और यदि अन्दर की शक्ति क्षीण हो जाय, अन्दर का चारित्र-बल रूप पवन निकल जाय, या हो ही नहीं, तो साधुपन और श्रावकपन को घसीटते-घसीटते ले जाना पड़ता है। वह साधक आगे नहीं बढ़ सकेगा। उसकी साधना भार बन जाएगी और उसे चाहे कितने ही वर्षों तक ढोना पड़े, वह भारस्वरूप ही बनी रहेगी। वह तुम्हें नहीं ढोएगी, तुम्हें ही उसे ढोना पड़ेगा।

तो आध्यात्मिक जीवन की जो परम्परा है, साधना है, वह आत्मदेवता के प्रति वफादार होना चाहिए, जो कि हमारा मूल जीवन है। साराँश यह है कि जब तक हम अन्दर में रहते हैं, तब तक गति करते हैं, अन्यथा नहीं।

शिष्य और मशाल :

प्रत्येक धर्म के प्रवर्त्तक कुछ रोशनी लेकर आगे बढ़े हैं। उस रोशनी के विषय में, बंगाल के एक अध्यात्मवादी संत बाउल कहते हैं—हरेक धर्म-प्रर्वत्तक आचार और विचार की जलती मशाल लेकर आगे बढ़ता है और अंधकार में भटकती हुई प्रजा, जिसको राह नहीं मिल रही है, उसके पीछे हो लेती है और अपना मार्ग तय करती है। जब उसका जीवन समाप्त हुआ तो उसने वह मशाल अपने शिष्य को दे दी और शिष्य आगे बढ़ा। मगर दुर्भाग्य से क्या हुआ, संत बाउल कहते हैं कि शिष्य के हाथों में दी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई मशाल बुझ गई और क्रिया-काण्ड के खाली डंडे ही शिष्यों के हाथों में रह गये हैं। उनमें रोशनी नहीं है। वे खुद भी अंधकार में ठोकरें खा रहे हैं और उनके पीछे की भीड़ भी ठोकरें खा रही है।

उस मार्मिक संत की कही हुई बात जब हम पढ़ते हैं या सुनते हैं तो हमारे मन में भी यही विचार आता है कि वास्तव में समाज की स्थिति ऐसी ही बन गई है। आज अहिंसा और सत्य की मशालें हाथों में अवश्य हैं, किन्तु वे बुझी हुई मशालें हैं—खाली प्रकाशविहीन डंडे मात्र हैं। यही कारण है कि हमारे जीवन में कोई प्रगति नहीं हो रही है। आगे आने वाली प्रजा को कोई रोशनी नहीं मिल रही है और सब टक्करें खा रहे हैं।

समय-समय पर साधु-समुदाय एकत्र होता है और साधु समाचारी का निर्माण किया जाता है। लम्बे-चौड़े वाद-विवाद होते हैं कि साधुओं को जीवन में किस प्रकार चलना चाहिए और किस प्रकार नहीं चलना चाहिए। समाचारी बनाने के लिए समाज के अन्यतम सेवक के नाते मुझे भी उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। मैंने देखा कि नियमोपनियमों की लम्बी चौड़ी धाराएँ बनाई जा रही हैं और सप्ताह के सप्ताह लगाये जा रहे हैं, तो कहना पड़ा कि नया शास्त्र कहाँ से तैयार कर रहे हैं ? आखिर हमें विरासत में जो प्राचीन शास्त्र मिले हैं, उनमें यह सब कुछ तो लिखा हुआ है। सचाई यह है कि आज समाचारी बनाने की नहीं, बल्कि उस पर चलने वालों की आवश्यकता है। शास्त्र तो पुकार रहे हैं कि सब हमारे अन्दर है। नयी कलमें नहीं बन सकतीं। आचार और विचार की कौन सी बात शास्त्रों में मौजूद नहीं है ? परन्तु उन पर चलने वाले कहाँ हैं ? अगर चलने वाले हैं तो अकेला दशवैकालिक भी ऊँचाई पर पहुँचा देगा और आचारांग भी पहुँचा देगा।

तो असली बात विधान बनाने की नहीं, उस पर चलने की है। जो विधान पर हस्ताक्षर करते हैं, वही जब जीवन में लड़खड़ा जाते हैं तब स्वभावतः वह विचार होने लगता है कि चारित्र का जो बल अन्दर से आना चाहिए था, वह नहीं आ रहा है। जब अन्दर में ज्योति जागृत नहीं होती, तो बाहर के नियम कभी-कभी हमको दंभ की ओर ले जाते हैं, और वे अंधकार में और गहरा अंधकार करने को तैयार रहते हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने जीवन के ही चारों ओर अंधकार नहीं करते, दूसरों को भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंधकार में निमग्न कर देते है। उस समय वह सहज भाव, अपने आप में चलने का भाव, पैदा नहीं होता और ऐसी-ऐसी कलमें तैयार कर लेते हैं कि स्वयं तैयार करने बालों से भी उनका पालन नहीं होता और न दूसरों से उनके पालन कराने की संभावना होती है। ऐसी दशा में फिर गड़बड़ में पड़ते हैं और तब माया में से माया चल पड़ती है। शास्त्रों के पन्ने पलटे जाते हैं और पलटने का उपदेश दिया जाता है, मगर इस बात का कोई ख्याल नहीं किया जाता कि अन्तर में पशुत्व-भावना पैदा होती जा रही है !

शास्त्रों में नरक-गति, तिर्यञ्च-गति, मनुष्य-गति और देवगति के जो कारण बतलाये गये हैं, वे इसी जीवन में होते हैं। इस जीवन में अगर पशुत्व भावना पैदा हो गई है तो आगे चल कर पशु की ही योनि मिलने वाली है और यदि देवत्व का भाव आया है तो देवगति मिलने वाली है।

माया तैर्यग्योनस्य।

– तत्त्वार्थसूत्र

पशु जीवन का कारण :

माया तिर्यञ्चगति का कारण है, अर्थात् पशुत्व की ओर ले जाती है। माया पशुत्व को उत्पन्न करने वाला चक्र है। इस प्रकार आगामी जीवन के अनुरूप वृत्ति यहीं उत्पन्न हो जाती है। आगे जो गधा या घोड़ा बनना है, सो वास्तव में तो यहीं बनना है। जब मनुष्य के शरीर में ही पशुत्व भावना उत्पन्न हो जाती है तो मनुष्य उसी रूप में, उसी शरीर में ही उत्पन्न होता है।

अभिप्राय यह है कि आन्तरिक चारित्र बल के अभाव में दंभ एवं मायाचार बढ़ता है और वह मनुष्य को पशुता की ओर ले जाता है। दंभी मनुष्य अपने प्रति वफादार नहीं रहता और जब वफादार नहीं रहता तो दंभ इतना ऊँचा चलता है कि कुछ ठिकाना नहीं। अन्दर में कुछ भी नहीं होता और बाहर में सभी कुछ दिखलाया जाता है।

बौद्ध साहित्य की एक घटना :

एक सेठ बड़ा धनवान् और वैभवशाली था। उसके यहाँ एक संत आये। वे सेठ से बोले– 'मुझे आपके यहाँ चातुर्मास करना है। चौमासे का समय आ गया है, अब मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाँ जाऊँगा ? थोड़ी-सी जगह दे दो तो यहीं चौमासा गुजार दूँ।"

सेठ ने कहा "भगवन् ! आपके लिए किस चीज की कमी है ? आप पधारे हैं तो आपको जितनी जगह चाहिए, उतनी ही मिलेगी। यह मेरा भवन है, आप कहें तो इसमें कमरे खाली कर दूँ ?"

आगन्तुक सन्त ने अध्यात्म का राग छेड़ दिया। कहा "सेठ ! यह सब वैभव हमारे लिए किस काम का ? हम तो इसमें गल जाएँगे। हमारे लिए तो घास-फूस की झोंपड़ी चाहिए। संतों के लिए वही बड़ी चीज है। हमें महलों से क्या प्रयोजन है ? महल में तो आध्यात्मिक जीवन सड़-गल जाता है।"

यह सुन कर सेठ के मन में सन्त के प्रति श्रद्धा और बढ़ गई। उसने कहा "आपका विचार प्रशस्त है। मेरे महल के एक किनारे एक छोटी-सी झोंपड़ी भी है, आप उसमें विश्राम कीजिए।"

सन्त ने झोंपड़ी देख ली और तब कहा "हाँ, यह ठीक है।" वे उस झोंपड़ी में ठहर गये। सेठ जब कभी उनके पास जाता, वे अध्यात्म की बड़ी-बड़ी बातें करते। इस प्रकार उन्होंने अपना जाल फैलाना आरम्भ कर दिया।

उस समय डाकेजनी होने लगी और बड़े-बड़े मालदारों का धन लूटा जाने लगा। जब इस प्रकार की घटनाएँ अधिक होने लगती हैं, तो स्वभावतः भय की भावना भी फैल जाती है। उस सेठ को भी भय ने घेर लिया। उसने विचार किया, कहीं डाकुओं की क्रूर दृष्टि मुझ पर भी न पड़ जाय। तब क्या करूँ, क्या न करूँ ? सोचते-सोचते उसे एक उपाय सूझ गया।

सेठ के पास जो भी हीरे, जवाहर, अलंकार, आभूषण आदि थे, उन सब की उसने एक पोटली बाँधी और पोटली को लेकर झोंपड़ी में आया। संत से कहा, "महाराज, जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है, अतः यह पोटली आपके यहाँ रख देता हूँ।"

सन्त ललाट पर सलवट डालकर और नाक सिकोड़ कर बोले "ना, ना सेठजी, इस माया को तो हम छोड़ कर चले हैं। इसे हम आँखों से भी नहीं देखना चाहते, स्पर्श करना तो दूर रहा।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेठ विनम्र और श्रद्धायुक्त भाव से बोला "महाराज ! आप को इसकी आवश्यकता नहीं है, पर जिसको आवश्यकता है, उसके लिए यह बड़ी चीज है। किन्तु आप उसे क्यों स्पर्श करें ? मैं स्वयं अपने हाथों, इसे जमीन में गाढ़ दूँगा और आपको हाथ लगाने की आवश्यकता न होगी।"

तब सन्त ने कहा, "अच्छी बात है हम आंखें फेर लेते हैं।"

सन्त ने आंखें फेर लीं और सेठ ने झोंपड़ी के एक कोने में पोटली गाढ़ दी। सेठ अब आनन्द में है। सोचता है—डाकू आएँगे तो महल में आएँगे और वहाँ अब क्या रक्खा है ? झौंपड़ी में आएँगे तो बाबाजी का दंड-कमंडल देखकर ही लौट जाएँगे।

इस प्रकार सेठ सुरक्षा की भावना लेकर बैठ गया। वह सन्त बाहर में तो सन्त थे, किन्तु उनके अन्दर में तेज नहीं था, बल्कि गहरा अंधकार भरा पड़ा था। वहाँ यह हाल था कि दूसरों को रोशनी देने की चिन्ता ही थी, अपने आप में रोशनी लाने की चिन्ता नहीं थी। अतएव वह मन ही मन सोचने लगे अच्छा चाँटा लगा दिया ! बच्चू जिंदगी-भर याद करेगा !

चौमासा उतर गया, फिर भी सेठ ने अपना धन नहीं निकाला। उपद्रव भी कम हो गया, फिर भी नहीं निकाला। जब सन्त के जाने का समय सन्निकट आया तो उन्होंने सारी सम्पत्ति निकाली और उसी दिशा में जंगल में ले जाकर गाढ़ दी, जिस दिशा में उन्हें जाना था। जब सब काम ठीक-ठाक हो गया तो उन्होंने सेठ से कहा "सेठ, अब हम चलते हैं। देखलो, अपनी झोंपड़ी संभाल लो।"

सेठ बोला "महाराज, आखिर यह झोंपड़ी ही तो है। इस में कौन-सी संभालने जैसी चीज है ?"

सन्त चले गये और कुछ दूर चले जाने के बाद वापिस लौट कर आये। उनके हाथ में घास का एक छोटा-सा तिनका था। वह सेठ के पास आकर बोले, 'बहुत बड़ा अपराध हो गया होता। हम तो मर मिटे होते और जीवन की सारी साधना मिट्टी में मिल गई होती। हम किसी काम के न रहते। देखो न, हम जब झोंपड़ी में से निकले तो घास का यह तिनका मेरी जटाओं में उलझा रह गया ! इसे फैंकता भी तो तुम्हारी आज्ञा के बिना फैंकता कैसे ? यह लो भाई, अपना तिनका। प्रभु की असीम कृपा हो गई कि जल्दी ही यह मेरे हाथ पड़ गया और मेरा जीवन अशुद्ध होते-होते बच गया।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेठ सन्त के पैरों में पड़ता है। कहता है "ओह। इतने ज्ञानी और विचारवान् हैं आप कि भूल से रहे एक तिनके का भी अस्तित्व सहन न हो सका।"

सन्त के प्रति सेठ की अब असीम श्रद्धा बढ़ गई। उसने कहा, "महाराज। मैं आपको नहीं जाने दूँगा। आप यहीं रहिए।"

सन्त ने मुस्करा कर कहा "नहीं, यह संभव नहीं। मैं तो जाऊँगा।" इतना कहकर सन्त तेज कदम बढ़ा कर चल दिए।

उस काल में बुद्ध, अपने पूर्व जन्म में, एक व्यापारी के रूप में थे और उस समय उस सेठ के पास ही बैठे थे। उन्होंने उस साधु के इस व्यवहार को देखा और विचार किया। उन्हें जान पड़ा कि यह साधु लौट कर आया है और वैराग्य तथा त्याग की भाषा बोल रहा है; किन्तु इसके आन्तरिक जीवन में कोई ठोस तत्व नहीं दिख रहा है। यह अपनी गलती को, अपने जीवन में आये हुए कालेपन को ढंकने की चालबाजी खेलता प्रतीत होता है। साधक कदम सँभाल-सँभाल कर चलता है, फूँक-फूँक कर नहीं चलता। जीवन में चलता है, तो चलने के ढंग से चलता है, जीवन के प्रति ईमानदार होकर चलता है, किन्तु ऐसा नाटक नहीं खेलता है। एक घास के तिनके को लौटाने के लिए दो-चार मील तक कोई नहीं लौटकर आता। इस साधु की यह वृत्ति कुछ समझ में नहीं आती। कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। दाल में कुछ काला अवश्य है।

इस प्रकार सोचकर उस व्यापारी ने सेठ से पूछा "कहीं धन तो नहीं रक्खा था इस साधु की जानकारी में।"

सेठ ने चौंक कर पूछा "तुम्हारे मन में यह आशंका क्यों उत्पन्न हुई? जो घास का तिनका लौटाने आएगा, वह क्या धन ले जाएगा?"

व्यापारी बोला—"हाँ, यह दम्भ का प्रतीक है। यदि कुछ हो तो बतला दो।"

सेठ चिन्तित भाव से बोला "साधु के सामने, उनकी झोंपड़ी में धन गाढ़ा तो था, पर वह वहीं गढ़ा होगा।"

दोनों ने जाकर देखा तो वहाँ सफाचट मैदान था।

सेठ ने कहा "यह क्या हो गया?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापारी ने कहा, "अजी, वही ले गया है। संभव है उसका पीछा करने से रास्ते में कहीं मिल जाय।"

ऐसा ही किया गया। साधु रास्ते में मिल गया। उससे पूछा गया, "वह धन कहाँ है ?"

साधु बोला, "हमको क्या पता तुम्हारे धन का ? हम तो घास का तिनका भी तुम्हें लौटा आए।"

तब उससे कहा गया, "सीधी बातें करो। हम जाने नहीं देंगें। उस धन के पीछे अपनी कम्बख्ती मत बुलाओ।"

इस प्रकार धमकाने पर साधु की बुद्धि ठिकाने आई। उसने धन बतला दिया और वह खोद कर निकाल लिया गया।

जहाँ दम्भ वहाँ धर्म कहाँ :

आज के धार्मिक जीवन में इसी प्रकार का दंभ, दिखावा और बनावट का भाव प्रायः सर्वत्र दिखाई पड़ता है। साधु हो या गृहस्थ, प्रत्येक के जीवन में ऐसी वृत्ति आ गई है कि भीतर तो किसी बल का संचार नहीं होता और ऊपर से क्रिया की जा रही है। ऐसी क्रिया कब तक टिकने वाली है ? नीचे गंदगी पड़ी है और उसके ऊपर फूल डाले जा रहे हैं तो गंदगी कब तक रुकेगी ? कब तक छिपेगी ? परिणाम यही आएगा कि फूल की एक-एक कली, जो महक दे रही थी, गल-सड़ कर गंदगी का रूप धारण कर लेगी।

अन्तधार्मिकता-विहीन कोरा क्रियाकाण्ड निष्प्राण शरीर के समान है। शरीर में जब चेतना नहीं रहती तो वह टिकता नहीं। वह सड़ने लगता है, गलने लगता है और दुर्गन्ध तथा जहर फैलाने लगता है। धार्मिकता-हीन क्रियाकाण्ड भी यही सब अनर्थ पैदा करता है। वह आत्मा में कषाय, अहंकार और पारस्परिक घृणा को उत्पन्न करता है। उससे व्यक्ति और समाज के जीवन का वातावरण दूषित भले ही हो सकता है, परन्तु पावन नहीं हो सकता।

इसी प्रकार अहिंसा, सत्य या अस्तेय, कुछ भी क्यों न हो, अगर आन्तरिक जीवन में सुगन्ध मौजूद है, तो वह फूलों के ढेर के समान महत्त्व की वस्तु है और यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्दर में सुगन्ध नहीं है तो पवित्र से पवित्र वृत्तियाँ भी गंदगी का रूप धारण कर लेंगी—और इस रूप में समाज का वातावरण भी दूषित हो जायगा।

इस तरह चारित्र बल हमारे धार्मिक जीवन की आत्मा है। उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। अगर वह है तो अहिंसा सफल है, सत्य भी फलदायी है और अस्तेय भी उपयोगी है। वह नहीं है तो सभी-कुछ निष्फल है, बल्कि कभी-कभी तो अनर्थकर है।

साधु हो अथवा श्रावक, आखिरकार साधक ही है। पुरातन संस्कारों से प्रेरित मनोवृत्ति के कारण या विचार-विभ्रम के कारण या सहज दुर्बलता के कारण कभी भूल हो जाना असंभव नहीं है। जीवन में गलतियाँ होती हैं और बड़ों-बड़ों से भी हो जाया करती हैं, परन्तु साधक की दृष्टि इतनी तीक्ष्ण होनी चाहिए कि उससे वह छिपी न रह सके, दृष्टि इतनी सजग होनी चाहिए कि वह सहन न हो सके और साधक में इतना साहस होना चाहिए कि वह उसे स्वीकार कर सके और प्रकाशित कर सके।

ठोकर खा गये तो खा गये, अगर तत्काल सँभल-जाने की शक्ति है तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। जो एक बार गिर कर फिर उठ सकता है, बल्कि पहले से भी अधिक ऊँचा उठ सकता है, उसका गिरना भी लाभदायक बन जाता है। किसी बालक को गेंद खेलते देखा है न? वह गेंद को नीचे पटकता है तो गेंद और भी ऊँची उठ जाती है। इसी प्रकार जो साधक अपनी गलतियों से ठोकर खा जाते हैं, किन्तु उससे शिक्षा ग्रहण करते हैं तो फिर अपनी सतह से भी ऊँचे उठ जाते हैं, वही सच्चे साधक हैं। वही जागरूक साधक है।

इसके विपरीत जो ठोकर खाकर चकनाचूर हो जाता है, मिट्टी के ढेले की तरह छितरा कर रह जाता है, कण-कण के रूप में बिखर जाता है, वह कभी ऊपर नहीं आ सकता।

इस भूमिका का अभिप्राय: यह है कि साधक जो भी व्रत या नियम ग्रहण करे, अन्तःशुद्धि के साथ ग्रहण करे। उस व्रत या नियम के अनुरूप ही उसका आन्तरिक जीवन हो। उसके भीतर चारित्रबल हो। तभी अहिंसा, सत्य अथवा अस्तेय आदि व्रत सार्थक होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव चारित्र :

हमारे जीवन में जो मूलभूत तत्त्व है, वह आन्तरिक चारित्र ही है, उसे आत्मशुद्धि कहो, निष्कलुष मनोवृत्ति कहो, भाव चारित्र कहो या निश्चय चारित्र कह लो। उसे कुछ भी नाम दे लो, व्रत-नियम की आत्मा वही है। उसी के अस्तित्व में व्रतों और नियमों की सार्थकता है। व्रत और नियम तो खेत की रक्षा के लिए खड़ी की जाने वाली बाड़ के समान हैं। खेत की रक्षा के लिए ही बाड़ लगाई जाती है। खेत खाली पड़ा हो तो बाड़ किस काम की ? इसी प्रकार अगर भीतर चारित्र नहीं है, तो व्रत नियमों की प्रतिज्ञा की क्या सार्थकता है ?

अस्तेय व्रत की प्रतिज्ञा ग्रहण करने वाले साधक को इस तथ्य का ध्यान रखना है। आन्तरिक चारित्र की नींव पर अस्तेय की प्रतिज्ञा का भवन खड़ा किया जाना चाहिए। तभी वह टिकाऊ होगा। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए आज यह भूमिका तैयार की गई है।

ब्यावर, अजमेर
२०-१०-५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२ संस्कृति का संदेश-वाहक

जैनधर्म और जैनसंस्कृति की, क्या साधु और क्या श्रावक, दोनों को ही सब से पहली शिक्षा यही है कि वह जीवन के दैनिक व्यवहारों में ईमानदारी से चले। जो व्यक्ति समाज से अलग रहता है, उससे भी यही अपेक्षा की जाती है और जो समाज के साथ काम कर रहा है, उससे भी यही आशा रक्खी जाती है कि वह अपने आप में ईमानदार रहे और अपने दायित्व को ठीक तरह से अदा करे।

आप साधु से क्यों बड़ी भारी प्रामाणिकता की अपेक्षा रखते हैं ? क्योंकि वह भूमण्डल के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जहाँ भी कहीं जाता है, समाज के साथ अधिक सम्पर्क रखता है। लोग उसके परिचय में ज्यादा आते हैं। जब आते हैं, तो वह अपनी संस्कृति की छाप और वह जिस रास्ते पर चल रहा है, उसकी ईमानदारी की छाप, जनता के मन पर डाल सके तथा अपना और दूसरों का भी कल्याण कर सके ऐसी उससे आशा रक्खी जाती है।

अस्तेय व्रत तथा व्यापार :

इसी प्रकार व्यापारी भी समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका जीवन बंधा हुआ जीवन नहीं है—उसका भी फैला हुआ जीवन है। उसका भी अधिक से अधिक जनता से वास्ता पड़ता है। अतएव उसे इस बात का ध्यान रखना है कि वह हजारों-लाखों के जीवन पर अपने जीवन की छाप डाल सके। जो भी व्यक्ति एक बार उसके परिचय में आए उसका जीवन ऐसा होना चाहिए कि, वह व्यक्ति दुबारा उसके पास आने की अभिलाषा करे और जहाँ कहीं भी वह जाए, उस व्यापारी के विषय में महान् विचार रख कर जाए।

सम्भव है, व्यापारी के जीवन में बाहर की चोरियाँ दिखलाई न दें। वह डाका डालता हुआ, ताला तोड़ता हुआ, जेब कतरता हुआ या आँख बचाकर किसी की कोई वस्तु उठाता हुआ नजर न आये, किन्तु कुछ चीजें ऐसी हैं कि वे जीवन के नीचे ही नीचे, ऐसे चलती रहती हैं कि उन पर यदि ध्यान न दिया जाय और पूरी तरह प्रामाणिकता न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्खी जाय तो व्यापारी का पद नीचे गिरता चला जायगा।

आपको एक बात विशेष रूप से ध्यान में लेनी है। जैन सभ्यता, जिसे हम मानव-जगत् की सभ्यता कहते हैं, उसका प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से हुआ। उससे पहले तो युगलियों का काल था। युगलियों के काल में न कोई व्यापारी था, न ग्राहक था। उत्पादन के ढंग थोड़े थे और जीवन की आवश्यकताएँ थोड़ी थीं और अनायास ही उनकी पूर्ति हो जाती थी। किन्तु जब आवश्यकताएँ आगे बढ़ीं और परम्परागत उत्पादन का क्रम कम पड़ गया तो मनुष्य के दिमाग में एक संघर्ष पैदा हुआ। उस समय भगवान् ऋषभदेव हमारे जीवन के मंगल के रूप में नजर आये। उन्होंने उस समय की पीड़ित जनता के सामने एक महत्त्वपूर्ण आदर्श रक्खा, कि पुरुषार्थ करो। जो कुछ भी तुमको पाना है, उसके पीछे ऐसे मत रहो कि वह यूहीं कहीं पड़ा हुआ मिल जाय अथवा दूसरे उत्पादन कर दें और हम उसका उपभोग कर लें।

यह जीवन की प्रक्रिया लाखों वर्षों तक चलती रही है, किन्तु बदलते-बदलत अब जीवन की परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं, फलतः मनुष्य के सामने बहुत बड़ा परिवार और समाज बनता चला आ रहा है। अब एक का नहीं, किन्तु लाखों का सवाल सामने है। उनका पेट भरने और भराने की समस्या है। ऐसी स्थिति में भाग्य पर नहीं, अपने हाथों-पैरों और पुरुषार्थ पर भरोसा रखना है। हमारे पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा इसी में है।

जैनधर्म का साहित्य महान् है और अब भी मौजूद है। और जिस रूप में मौजूद है वह आज से नहीं हजारों वर्षों से भगवान् ऋषभदेव के पुरुषार्थ के महत्त्व की बात कहता चला आया है, जो उन्होंने मानव जाति को सिखलाया था। तत्कालीन मानव-जीवन में वह एक बहुत बड़ी क्रान्ति का मंगलमय संदेश था।

धर्म और कृषि :

इस रूप में असि, मसि और कृषि के धंधे आये ! बोलने में हम ऐसा बोलते हैं, पर वास्तव में पहले कृषि आई, फिर मसि आई और बाद में रक्षा के लिए असि, तलवार आई। थोड़ा विचार कीजिए कि जब कृषि उत्पादन हीं नहीं हो तो हिसाब-हिताब किसका किया जायगा ? अतएव सर्वप्रथम कृषि है। कृषि के द्वारा जब एक जगह धान्य इकट्ठा हो जाता है और दूसरी जगह न होने से वहाँ उसकी आवश्यकता होती है और उसके अभाव में जनता भूखी रहती है, तब व्यापारी के द्वारा धान्य एक जगह से दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगह पहुँचाया जाता है और वह फिर उस जगह के किसी विशेष उत्पादन को लेकर अपने स्थान को लौटता है।

इस प्रकार जब आयात-निर्यात का काम जारी हुआ तो उसके नफा-नुकसान का हिसाब-किताब रखना जरूरी हो गया और कलम पकड़ना भी जरूरी हो गया।

और जब कलम पकड़ी तो जीवन में एक महत्त्वपूर्ण बात हो गई। एक महान् क्रान्तिकारी वस्तु ने जन्म ग्रहण किया। इस प्रकार व्यापारी जब कलम लेकर चला तो, एक जगह के भंण्डार को, जहाँ उत्पादन ज्यादा है और आवश्यकता कम है, दूसरी जगह, जहाँ उत्पादन कम और आवश्यकता अधिक है, पहुँचाने लगा। वह एक जगह से दूसरी जगह घूमता है और जनता की आवश्यकता की पूर्ति करता है और पुरुषार्थ करता है। उसमें उसका भी स्वार्थ है। इसी व्यापार के द्वारा वह अपनी आजीविका भी कमा लेता है। पर उसकी दृष्टि इतनी विशाल और सेवामयी है कि उसमें स्वार्थ की प्रधानता नहीं है। आखिर तो व्यापारी के साथ भी पेट लगा है, स्त्री है, बाल-बच्चे हैं और उनके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व उसके सिर पर है। वह अपना समय और शक्ति जनता की इसी सेवा में लगा रहा है और अपनी तथा अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई दूसरा धंधा नहीं करता। ऐसी स्थिति में अगर वह इस आयात-निर्यात में से ही अपने निर्वाह का साधन न जुटाये तो क्या करे? इस रूप में आयात और निर्यात के साथ तीसरी चीज-नफा का भी प्रादुर्भाव हुआ।

यही व्यापार का आदि इतिहास है। जनता के मंगल के लिए ही उसका सूत्रपात हुआ। इस प्रकार आर्य-सभ्यता में पहला नम्बर कृषि का है तो दूसरा व्यापार का।

कृषक और व्यापारी :

किसान एक जगह कृषि करता है। वह जहाँ रहता है वहीं रहता चला जाता है और पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ वहीं गुजार देता है। उसकी स्थावर सभ्यता एक जगह केन्द्रित है। इस कारण जनता के ऊपर उसका व्यापक प्रभाव नहीं होता है। मगर व्यापारी की सभ्यता जंगम है। वह भूमण्डल के एक-एक कोने को छानता है और जगह-जगह जाता है। वह जाता है तो मैं समझता हूँ कि उसे सच्चा व्यापारी बन कर जाना चाहिए और इंसान बन कर जाना चाहिए। अगर वह लुटेरा बन कर जाता है, दूसरे जीएँ या मरें इस बात की चिन्ता न करते हुए केवल पूँजी बटोरने के लिए ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, तो मैं समझता हूँ, वह अपने धर्म और अपनी सभ्यता की रोशनी देकर नहीं आएगा। यह संभव है कि वह चतुरता से लौट कर आ जाय और सम्पत्ति भी बटोर लाये, किन्तु उसके लिए वहाँ की जनता कहेगी—लूट कर ले गया। वह इतना धूर्त और चालाक था। इस प्रकार वह जनता की श्रद्धा लेकर नहीं, घृणा लेकर लौटेगा। ऐसे व्यापारी की स्थिति ठीक उस डाकू की तरह है, जो छापा मार कर ले जाता है और पीछे घर वाले रोते रहते हैं और उसके पीछे घृणा और द्वेष पनपते रहते हैं।

एक व्यापारी जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न कर देता है तो उसके दूसरे साथियों पर से भी जनता का विश्वास उठ जाता है।

संस्कृति का प्रतीक व्यापारी :

व्यापारी संस्कृति का प्रतीक है। भारतवर्ष की सभ्यता इंडो-चायना या जावा-सुमात्रा में पहुँची, चीन में पहुँची या फिलीपाइन में पहुँची और भारत से बाहर आज भी हिन्दुओं के जो चिन्ह—भारत की संस्कृति के प्रतीक विदेशों में पाये जाते हैं, उन्हें वहाँ कौन ले गया था ? वहाँ तलवारों के बल पर वह सभ्यता नहीं पहुँची थी। राजा और महाराजा अपने साम्राज्य को बढ़ाने के लिए नहीं गये थे। वास्तव में विदेशों में भारतवर्ष की सभ्यता फैलाने वाले व्यापारी ही मुख्य थे।

जावा-सुमात्रा, चीन और जापान, जहाँ कहीं भी नजर डालते हैं, वहाँ संस्कृत के शिला-लेख मिलते हैं। आपके यहाँ प्रचलित हजारों रीति-रिवाज वहाँ भी मिल जाते हैं। इतिहासज्ञ जानते हैं कि आपकी सभ्यता और आपके रीति-रिवाज वहाँ पहुँचे हैं।

इसका अर्थ यह है कि भारत के व्यापारी जहाँ कहीं भी गये, वहाँ उन्होंने पैसा भी कमाया और साथ ही साथ जनता के हृदय की भावना भी कमाई। दोनों कमाइयाँ साथ-साथ कीं। वे केवल पैसा कमाकर ही नहीं लौटे, जनता के प्रेम की स्वर्गीय सम्पत्ति भी कमा कर लौटे। उन्होंने जनता को प्रेम दिया और बदले में प्रेम लिया और अपनी संस्कृति की गहरी छाप भी जनता के मानस-पटल पर अंकित कर दी। बौद्ध गये तो हजारों बौद्ध, जैन गये तो हजारों जैन और वैदिकधर्मी गये तो हजारों वैदिक बनाकर लौटे। व्यापारी लोग विदेशों में जाकर साधुओं की तरह उपदेश देने नहीं बैठे थे, उन्होंने वहाँ व्यापार ही किया, किन्तु अपनी व्यापारिक योग्यता और प्रामणिकता के द्वारा व्यक्तिगत प्रतिष्ठा ही कायम नहीं की, वरन् अपने देश के लिए भी बहुत बड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौरव का भाव उत्पन्न किया। उनके विषय में वहाँ की जनता ने कहा, "ये जिस देश के व्यक्ति हैं वह देश कितना महान् होगा ! जिस धर्म के मानने वाले इतने महान् हैं तो वह धर्म कितना महान् होगा।"

तो व्यापारियों ने जो पैसा कमाया और धर्म का प्रचार किया, वह केवल व्यापार की कला से। वे कलम की कला से ही अपने धर्म का प्रचार करके लौटे।

प्राचीन भारत का व्यापारी जब व्यापार के हेतु विदेश जाता था तो किस रूप में जाता था ? वह आज की भाँति नहीं जाता था। आज किसी व्यापारी को पता चल जाता है कि कमाई का "चान्स" है, तो वह रात को ही दौड़ पड़ता है; चुपके-चुपके चल देता है और किसी को पता नहीं लगने देता। यहाँ तक कि सगे भाई को भी पता नहीं चलने देता। सोचता है, "इस लूट में किसी का हिस्सा न हो जाय और पूरा का पूरा लाभ मैं ही प्राप्त कर लूँ।" दूसरे पूछते हैं, "क्या हुआ ?" तो वह ठीक-ठीक बात नहीं बतलाता।

एक जगह लोगों ने मुझे एक व्यापारी की बात बतलाई जब वह कहीं से सौदा खरीद कर लाता। दूसरे उससे पूछते कि कहाँ गये थे ? तो वह उत्तर देता, "इधर-उधर गया था।" फिर पूछा जाता—किससे सौदा लाये ? वह कहता, "तेरे से, मेरे से"। क्या लाये ? "बस, यही सौदा-सादा।" अजी, क्या भाव लाये ? "यही छटाँक कमती छटाँक बढ़ती।"

वह व्यापारी इस प्रकार टालमटूल कर दिया करता। कहाँ से, किससे और किस भाव से लाया, यह पता नहीं देता था। और यह पता न देने में आज व्यापारी की कला समझी जाती है। आज उसकी यही बड़ी योग्यता है, जिससे व्यापारी ऊँचा चढ़ता है।

किन्तु पुराने युग में यह बात नहीं थी। उस युग का व्यापारी जब जाता था तो नगर भर में ढिंढोरा पिटवा दिया जाता था कि अमूक सेठ जी व्यापार करने के लिए विदेश जा रहे हैं, जिसे साथ में चलना हो चले। उसका सारा प्रबन्ध सेठ जी अपनी ओर से करेंगे। पूँजी भी मिलेगी। टोटा पड़ेगा तो उसे स्वयं सेठजी भुगत लेंगे। नफा होगा तो उसी का होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति अग्रदूत सार्थवाह :

इस प्रकार एक बड़े व्यापारी के साथ हजारों हो लेते थे। जब 'सार्थ' रवाना होता था तो राजा और नागरिक जन विदाई देने को उमड़ पड़ते थे। सारी जनता उनके लिए मंगल-कामना करती थी और मनाती थी कि यह सब सकुशल और सफल मनोरथ होकर लौटें। वे जब तक नहीं लौटते थे, समस्त नगर निवासी उनके लिए मंगल कामना करते रहते थे और उनके हृदय का आशीर्वाद उन्हें मिलता रहता था।

यह ठीक था कि चन्द आदमी ही व्यापार के लिए जाते थे, किन्तु समस्त देश के निवासियों की सद्भावना उनके साथ होती थी। जब वे वापिस लौटते थे तो सम्राट् भी उनके स्वागत के लिए सामने जाता था और धूमधाम के साथ उनका नगर-प्रवेश कराया जाता था।

वह साझेदारी का काम था, हिस्सा बांटने का काम था। हमारे प्राचीन साहित्य में भारतीय जन-जीवन की जो झलक देखने को मिलती है, वह कितनी स्पृहणीय है ! कैसी उदारता, सहानुभूति और उदार दृष्टि थी उस समय के व्यापारियों की। और इस सब के बदले में वे क्या घाटा उठाते थे ? नहीं, उन्हें जीवन की सभी समृद्धियाँ प्राप्त होती थीं।

हमारी संस्कृति के ये अग्रदूत जहाँ कहीं गये, पैसा, सोना और चाँदी लेकर आये और साथ ही उस देश का प्रेम भी लेकर आये और उन्होंने एक देश का दूसरे देश के साथ मधुरतम सम्बन्ध भी जोड़ा।

मगर आज भी क्या यही स्थिति है ? मैं समझता हूँ, आज का व्यापारी समाज उस उच्च आर्य-परम्परा पर स्थिर नहीं रहा है। वह बिगड़ गया है। पहले का व्यापारी कोरा अर्थलिप्सु नहीं था। वह अपनी सभ्यता और संस्कृति का भी प्रसार करता था और अच्छाइयाँ देकर और लेकर आता था।

उत्तराध्ययन सूत्र में समुद्रपाल का वर्णन आता है। उसका पिता पालित श्रावक चम्पा का निवासी था। वह जहाज भर कर समुद्र के रास्ते विदेश में गया तो हजारों को हिस्सेदार बना कर गया और जब विदेश में पहुँचा तो उसने वहाँ के निवासियों के चित्त पर सुन्दर छाप लगाई। शास्त्र में आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिहुण्डे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूयरं ।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ ॥

वहाँ के एक प्रतिष्ठित नागरिक ने पालित की प्रामाणिकता को देखकर, और जीवन के अन्दर सुन्दर छाप देखकर अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया।

आप कह सकते हैं कि उसने ऐसा क्यों कर लिया ? वह श्रावक था या नहीं ? और इस प्रकार आपकी बुद्धि कोने तलाश करने लगती है। आपको अपनी मानी हुई संस्कृति की रक्षा की चिन्ता जाग जाती है और आप कहने लगते हैं, वह पहले श्रावक नहीं बना होगा। बाद में श्रावक बना होगा और इसी कारण वह विवाह करके आ गया !

किन्तु बात यह है कि पालित व्यापार के लिए गया था और विदेश के व्यापारी ने उसे अपनी कन्या ब्याही। यदि उसने वहाँ अपने उच्च चरित्र का, ऊँची सभ्यता का और प्रामाणिकता का परिचय न दिया होता तो उसे वह अपनी लड़की नहीं दे सकता था। पालित श्रावक बड़ा ही विद्वान और सच्चा विचार करने वाला था। जब वह जहाज से रवाना हुआ तब भी शास्त्र ने उसे श्रावक करार दिया। और जब लौट कर आया, तब भी श्रावक की भूमिका में लौट कर आया। उसके जीवन में एकरूपता है। जैसा पहले रहा, वैसा ही बाद में भी रहा।

आशय यह है कि भारतीय व्यापारी वर्ग ने अपने उच्च आचार-विचार के द्वारा ऐसी सुन्दर छाप छोड़ी और इतने सुन्दर विचार छोड़े कि भारत के साथ अनेक देशों के मधुर सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हुए, बल्कि उन देश वासियों ने अपने बालकों और बालिकाओं के विवाह सम्बन्ध भी किए।

तो एक व्यापारी अगर ठीक व्यापारी बना रहता है और अपनी संस्कृति का अग्रदूत बन कर चलता है तो वह धन भी कमाकर लाता है और मीठे सम्बन्ध भी स्थापित कर आता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि समाज में व्यापारी का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उस समय के व्यापारियों ने समाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। आज की भाँति उनके प्रति जनता की घृणा नहीं बरसती थी। सच पूछो तो आज समाज में व्यापारी की अगर कुछ भी प्रतिष्ठा हो तो उसका श्रेय भी प्राचीन काल के व्यापारियों को ही है। उनके उदार दृष्टिकोण, लोक-कल्याण की भावना, प्रामाणिकता और सचाई के कारण जनता में व्यापारी का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था, इस गई-गुजरी हालत में भी उसका ध्वंसावशेष कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा आज का व्यापारी तो व्यक्तिगत स्वार्थ की दलदल में फँस गया है। उसने अपनी ही स्वार्थपूर्ति के लिये व्यापार की कला सीखी है। अतएव वह संसार की नजरों में गिरता जा रहा है और उसकी प्रतिष्ठा टुकड़े-टुकड़े होती जा रही है।

संभव है, भारत में विदेशियों का सन्मान हो, किन्तु विदेशों में भारत के व्यापारी का सन्मान नहीं है। हमें जो जानकारी मिली है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के दूसरे वर्गों के व्यक्तियों का, चाहे वे झाड़ू लगाने वाले ही क्यों न हों, विदेशों में जितना सन्मान है, व्यापारी वर्ग का उतना भी सन्मान नहीं रह गया है। कारण यही है कि उन्होंने प्रामाणिकता का परिचय नहीं दिया है। आज के व्यापारी नमूना कुछ भेजते हैं और चीज कुछ भेज देते हैं।

भारत सरकार इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ व्यापार सम्बन्ध जोड़ने की बात-चीत करती है, किन्तु इंग्लैण्ड और अमेरिका को, भारतीय व्यापारियों के विरुद्ध शिकायत है कि जो चीज भेजी जानी चाहिए, वह नहीं भेजी जा रही है ! इस प्रकार की शिकायतें भारत सरकार के भवन में पड़ी रहती हैं। व्यापारियों को चुनौती दी जाती है, फिर भी वे अपनी प्रकृति नहीं बदलते हैं। इससे न केवल उन्हीं की, बल्कि देश की प्रतिष्ठा को भी क्षति पहुँचती है।

विदेश में मधुर वही बन सकेगा, जो देश में भी मधुर होगा। जो अपने परिवार में मीठा और नम्र होता है, ईमानदारी से काम करता है और अपने सगे भाई के साथ प्रेम का व्यवहार कर रहा है, यदि उसके पास कला है तो वह दूसरे के साथ भी मीठा व्यवहार कर सकेगा।

हाँ, तो आज का जो भारतीय व्यापारी है, उसके ऊपर चोरी की गहरी छाप लग गई है। उसने भगवान् महावीर के अस्तेय-अचौर्यव्रत के संदेश को भुला दिया है। परन्तु जो उस महान् संदेश पर कायम रहता है, उसकी प्रतिष्ठा कम नहीं हो सकती।

विश्वास और प्रतिष्ठा के आधार पर ही जगत् के व्यवहार ठीक तरह चलते हैं। हम साधु भी देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाते हैं। जनता के ऊपर हमारे प्रति विश्वास की एक भूमिका है। उसी के सहारे ही हम अपनी यात्रा सम्पन्न करते हैं। इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार अगर आप अपना विश्वास कायम रखते हैं तो आपको प्रतिष्ठा भी मिलेगी, सम्पत्ति भी मिलेगी और शान्ति भी मिलेगी। जो जितना ही अधिक विश्वासपात्र होगा, वह उतना ही ऊँचा चढ़ सकेगा। इसके विपरीत अगर आप व्यापारी अपनी प्रतिष्ठा को खो देते हैं और देश में अपनी इज्जत खत्म कर देते हैं, तो फिर पनपना कठिन हो जायगा। एक ऐसी गड़बड़ पैदा हो जायगी कि उसे सँभालना आपके वश की बात नहीं रहेगी।

आज के व्यापारी को देखते हैं तो स्थिति बड़ी निराशा-जनक प्रतीत होती है। हालत यहाँ तक गिर गई है कि चीज को लेते और देते समय व्यापारी के तोलने के ढंग भी न्यारे-न्यारे हो गये हैं। देने के बाँट अलग रक्खे जाते हैं और लेने के बाँट अलग होते हैं। जिस तराजू का आदर्श बड़े-बड़े सम्राटों के आगे गया और उन्होंने अपने सिक्कों पर तराजू का चिन्ह अंकित किया और कहा कि हम इन्साफ और न्याय को तराजू की तरह तोलेंगे वही तराजू अगर अपनी प्रतिष्ठा पर पानी फेर दे तो क्या शोचनीय बात नहीं है ?

न्याय एवं नीति :

तराजू न्याय-नीति का प्रतीक है। तलवार उठाने वाले सम्राट भी तराजू की तरह न्याय करने की घोषणा करते थे। परन्तु आज तो वह तराजू ही बदल गई है। लेते समय कुछ और है और देते समय कुछ और है।

एक सेठ के तीन लड़के थे। उनके नाम थे घटाऊ, बढ़ाऊ और पूर्ण। उसके यहाँ कोई माल बेचने आता और लेना होता तो बढ़ाऊ को, जब देना होता तो घटाऊ को और जब कोई राज-कर्मचारी आता तो पूर्ण को माल तोलने के लिए कह देता था। लड़के भी ऐसे प्रशिक्षित बना लिए गये थे कि वे क्रमशः ज्यादा, कम और बराबर तोल का अपना-अपना कर्त्तव्य अदा करते थे। इसी रूप में उसने अपने लड़कों के मतलब के नाम रख लिए थे और वह इसी तरह व्यापार किया करता था।

परन्तु भगवान् महावीर ने कहा है कि इस प्रकार का जो व्यापार होता है, वह चोरी का काम है। ऐसा करने वाले का श्रावकपन कायम नहीं रह सकता है। कमती देना और ज्यादा लेना, भगवान् महावीर की निगाह में चोरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार व्यापारी के पास खोटे सिक्के आ जाते हैं और वह उन्हें दूकान में इकट्ठा कर लेता है और सोचता है कि कोई न कोई भोला आदमी, रात-विरात ले ही जायगा।

सौदे-सट्टे का बड़ा व्यापारी कभी-कभी सौदे का भाव इतना ऊँचा चढ़ा देता है और कभी इतना गिरा देता है कि मध्यम वर्ग अपनी स्थिति को सँभालने में असमर्थ हो जाता है, बुरी तरह पिस जाता है। देखते हैं, बम्बई के बड़े-बड़े व्यापारी भावों में काफी घटती-बढ़ती करके हजारों गरीबों का शोषण कर लेते हैं। फिर मध्यम वर्ग ज्योतिषियों के पास दौड़ा जाता है। वे उसे आशीर्वाद देते हैं, पर उनका आशीर्वाद भी कुछ काम नहीं आता। क्योंकि वे बड़े बाबाजी जो बैठे हैं। असली बात तो उनके हाथ में है। वे जब और जिस रूप में चाहें, बाज़ार को हिला सकते हैं। मध्यम वर्ग के ग्रहों और नक्षत्रों के संचालक मानो वही हैं और उनकी घूँस खाकर ग्रह और नक्षत्र भी उन बेचारों को धोखा दे देते हैं।

यह सब क्या है ? यह साधारण चोरी नहीं, चोरी का एक बड़ा अंग है। जैन सिद्धान्त इसे चोरी मानता है क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति में दूसरों का हक हड़प जाने की भावना है।

वास्तव में आज की परिस्थिति बहुत चिन्तनीय है। आज व्यापार का ढंग कुछ का कुछ हो गया है। व्यापारियों को मर्यादा में रखने के लिए सरकार एक कायदा बनाती है और नियन्त्रण लगा देती है। कहने को तो व्यापारियों के हाथ-पैर बाँध दिये जाते हैं और वे ऊपर से चोरी करते दिखाई नहीं देते हैं, परन्तु अन्दर ही अन्दर उनके हाथ-पैर लम्बे फैल जाते हैं। आज व्यापारी ब्लैक मार्केट के रूप में हजारों का शोषण करता जाता है और धन का संग्रह करता जाता है। वह उस धन को बहीखाते में नहीं चढ़ाने पाता तो तिजोरियों में भरता जा रहा है। इस प्रकार जन-जीवन में से धन का संचार रूक गया है और वह एक जगह पड़ा-पड़ा सड़ रहा है।

चोर के द्वारा की जाने वाली चोरी का सम्बन्ध यद्यपि सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था के साथ भी है, परन्तु प्रत्यक्ष सम्बन्ध एक व्यक्ति के साथ है। परन्तु आज का काला बाजार उसके मुकाबिले में भी गुरुतर अपराध है। उसका सम्बन्ध एक-दो गिने-चुने व्यक्तियों के साथ नहीं है, अपितु समग्र देश के साथ है, देश की करोड़ों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनता के साथ है। करोड़ों आदमियों का भाग्य उसके साथ बँधा हुआ है। इस चोरी का ऊपर से पता नहीं लगता है, किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से वह घोर पाप है।

पाप के भेद :

कुछ पाप वैयक्तिक होते हैं, कुछ सामाजिक और कुछ राष्ट्रीय होते हैं। किन्तु खेद है कि लोग वैयक्तिक पाप को तो पाप समझ सकते हैं और समझते भी हैं, मगर सामाजिक और राष्ट्रीय पाप उनकी समझ में ही नहीं आता। उसका कोई गुरुत्व ही वे महसूस नहीं करते। यह पतन की पराकाष्ठा है। जो पाप को पाप समझता है, वह किसी दिन उससे बच भी जायगा, मगर पाप को पाप न समझने वाले का रोग तो असाध्य समझना चाहिए।

आज की विषम स्थिति देख कर किस सहृदय का हृदय आहत नहीं हो जाता ? एक ओर देहात की लड़कियों के पास तन ढाँकने को वस्त्र नहीं है, वह चिथड़ों से किसी प्रकार अपनी लाज बचाती हैं। उनके पास न खाने को रोटी है और न पहिनने को वस्त्र हैं। और दूसरी तरफ एक-एक व्यापारी के घर में दो-दो हजार धोती जोड़े छापा मारने पर पकड़े जाते हैं। इस प्रकार एक ओर लोभ-लालच और असीम संग्रह की भावना का नंगा नाच हो रहा है और दूसरी ओर लोग जीवन की अनिवार्य आवश्यक सामग्री से भी मुहताज हो रहे हैं।

बंगाल के अकाल की हालत आपको मालूम होगी, वहाँ बालक और बूढ़े, मक्खियों और मच्छरों की तरह मर रहे थे और दो-दो रुपये में बच्चे बिक रहे थे। लाखों आदमी मौत के मुँह में चले गए। उस समय भी किसी किसी व्यापारी के गोदाम में हजारों मन चावलों के बोरे भरे पड़े थे। वह उन्हें बड़े यत्न से संभाले था कि कब भाव कुछ और ऊँचा चढ़े और तब इन्हें बेचूँ।

इस हृदयहीनता, निर्दयता और कठोरता की कहीं हद है ?

मुझे एक व्यापारी का पता है। उसने 'ब्लैक मार्केट' न करने का नियम लिया था। वह सूत का बड़ा व्यापारी था। वह तो सरकार द्वारा निश्चित दर पर ही सूत बेच रहा था, किन्तु उसी के यहाँ से ले जाकर लोगों ने ब्लैक करके कमाई की। लोग उस बड़े व्यापारी से कहने लगे-तम मर्ख हो। तम्हारे अकेले से क्या होता है ? तम्हारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रामाणिकता से जनता को क्या लाभ है ? आखिर दूसरे व्यापारी बीच ही में अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं और तुम धर्म की पूँछ पकड़ कर बैठे हो ? जब तुमसे ले जाकर दूसरे लोग लाभ उठाते हैं तो तुम्हीं क्यों लाभ गंवा रहे हो ? यहाँ एक धर्मशाला की जरूरत है। तुम्हें ब्लेक का पैसा अपने पास न रखना हो तो एक धर्मशाला बनवा देना।

इस प्रकार कह कर लोगों ने उसे बरगला लिया। वह भी प्रलोभन में पड़ गया और मेरे पास आया। बोला—मैंने चोरी का त्याग कर रक्खा है, पर दूसरे लोग उससे लाभ उठा रहे हैं। मुझसे ले जाकर वे 'ब्लैक मार्केटिंग' करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि मैं स्वयं ब्लैक कर लूँ तो क्या हर्ज है ? उससे जो रुपया आयगा, उसे धर्मशाला बनवाने में लगा दूँगा।

मैंने कहा—यह तो बड़ी भारी अज्ञानता का काम होगा। नीति कहती है—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी।
प्रज्ञालनाद्धि पंकस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्॥

पहले कीचड़ में पैर देना और जब सन जाय तो उसे पानी से धोना, कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति तो वही है जो पहले ही कीचड़ में पैर नहीं भरने देता। इसी प्रकार पहले धन उपार्जन करने और फिर उसे धर्म में लगाने की अपेक्षा तो धनोपार्जन से विरत हो जाना ही अधिक श्रेयस्कर है। फिर अनीति और अधर्म से धनोपार्जन करके दान देना तो और भी बड़ी अज्ञानता है। इस प्रकार का दान सच्चा दान नहीं है। वह तो कषाय और अहंकार की आग को प्रज्ज्वलित करने वाला ईंधन है। उसमें धर्म के बदले प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि का उपार्जन करने की भावना प्रधान है। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि धर्म के लिए धन की इच्छा करने की अपेक्षा धन की इच्छा न करना ही अधिक श्रेष्ठ है।

हाँ, तो मैंने उस व्यापारी से कहा—तुम जनता को लूटकर कदाचित धर्मशाला का महल खड़ा भी कर लोगे तो भी लोगों की निगाह में वह धर्मशाला अधर्मशाला ही रहेगी। ऐसा करके तुम जनता की सद्भावना को नहीं पा सकोगे। और न्याय नीति से चलकर, सम्भव है कि तुम एक झौंपड़ी भी न बनवा सको, किन्तु यदि तुम चोरी नहीं करते और ब्लैक नहीं करते तो यह तुम्हारा बड़े से बड़ा धर्म है। दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, यह तो सरकार के ध्यान देने की बात है। तुम्हें तो अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार करना है। एक की अनीति देख कर दूसरा भी अनीति में प्रवृत्त हो जाएगा तो अनीति की परम्परा किस जगह जा कर रुकेगी ? नीति को कहाँ जगह रह जायगी ? दूसरे लोग यदि मार्ग भूले हैं तो हम जान-बूझ कर क्यों उनके पीछे चलें।

देश के ऊपर आज बहुत बड़ा संकट है। देश संक्राति के युग से गुजर रहा है। व्यापारी चाहें तो इस संकट को टालने में महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं। इससे देश की रक्षा होगी, व्यापारी वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और भारतवर्ष की प्राचीन व्यापार नीति के उज्ज्वल उद्देश्य की भी रक्षा होगी।

मैं समझता हूँ कि इस ढंग से चलने में ही व्यापारी समाज का लाभ है। इस ढंग पर न चल कर व्यापारी अगर अपना मौजूदा रवैया नहीं बदलते तो ऊबी हुई जनता एकदम असहिष्णु बन जायगी। वह व्यापारियों के अस्तित्व को एक दम उखाड़ फेंकेगी और विनिमय एवं आयात-निर्यात की किसी दूसरी पद्धति को प्रचलित करेगी। उस समय व्यापारी वर्ग को जो क्षति उठानी पड़ेगी, उसका आज अनुमान करना भी कठिन है। अतएव व्यापारी लोग अगर दूरदर्शी हैं तो समय रहते उन्हें सावधान हो जाना चाहिए और व्यापार के नाम पर चलने वाली नाना प्रकार की तस्कर-वृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए।

कहाँ दूसरे देशों के लोग हैं जो गरीबी में जीवन गुजारते हुए भी अपने देश को ऊँचा उठाने में लगे हुए हैं और कहाँ हमारे देश के लोग हैं जो अपनी तिजोरियाँ भरने में ही दत्तचित्त हैं। जब हम विचार करते हैं कि दूसरे देशों को वसीयत के रूप में एक महान् और अत्यन्त उज्ज्वल परम्परा नहीं मिली है, फिर भी उनमें अस्तेय का भाव उस देश के निवासियों की अपेक्षा, जिसे कि वह परम्परा वसीयत में मिली है, अधिक है, तो हमारे आश्चर्य का पार नहीं रहता।

भारत की श्रेष्ठ सभ्यता हमारे सामने है, फिर भी भारतीय पाप करके धर्म करने की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ रहे हैं। उनकी समझ में क्यों नहीं आता कि पापों को छोड़ देना भी, अपने आप में बड़ा धर्म है ?

जैन धर्म या दूसरा कोई भी धर्म, धर्म करने के लिए पाप करने की प्रेरणा नहीं करता। प्रत्येक धर्म पाप न करने की ही बात कहता है। अगर व्यापारी, जो किसी समय महान् थे किन्तु आज नीचे गिर गये हैं, देश को बनाना चाहेंगे तो बना देंगे और बिगाड़ना चाहेंगे तो बिगाड देंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगर व्यापारियों ने होश न सम्भाला तो भूखी-जनता की आँखें उनकी तिजोरियों को घूर रही हैं। अब ये तिजोरियाँ सुरक्षित नहीं रह सकेंगी। व्यापारी यदि उनकी रक्षा करना चाहते हैं, तो एक ही उपाय है और वह यह कि उन्हें और अधिक भरने की कोशिश न की जाय, साथ ही उनका बोझ कम करके उन्हें जरा हल्का कर दिया जाय। ऐसा न किया गया तो भीषण क्रान्ति और बड़ा भारी इन्किलाब आएगा। उसे कोई नहीं रोक सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जीवन में, व्यापार-कला के नाम से आज जो चोरी चल रही है, उसे त्याग देना ही मंगलकर है। स्तेय के बिना नीतिपूर्वक एक पैसा भी आयगा तो वह रुपये के बराबर होगा। और यदि हजारों, लाखों और करोड़ों आ गये, किन्तु गरीबों के आँसुओं से भीगे हुए आये, तो वे बर्बाद कर देंगे।

युग के विधान को समझ लेने में ही बुद्धिमत्ता है। आज अखिल विश्व एक नये रूप में बदलता जा रहा है और जनता नवीन दृष्टिकोण से तथ्यों को समझने और अवलोकन करने लगी है। वह दृष्टिकोण अब तक के दृष्टिकोण से बहुत अंशों में निराला है। अब कोई भी शक्ति प्राचीन आर्थिक प्रणालिका को कायम रखने में समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में जो न सँभलेंगे वे स्वयं डूबेंगे और अपने सजातियों को भी डुबोयेंगे।

व्यापारिक स्तेय उस स्थिति को सन्निकट से सन्निकटतर ला रहा है। व्यापारी ब्लैक मार्केट करके अपने ही पैरों पर कुठार चला रहे हैं। वे समझते हैं, हम चतुर हैं, मगर चतुर लोग समझते हैं कि अपने अस्तित्व की जड़ उखाड़ने में लगे हुए लोगों की मूर्खता सीमातीत है।

मैं देख रहा हूँ, यह अन्तिम अवसर है। जिन्हें सावधान होना हो, हो लें, अन्यथा काल-चक्र में पिसना ही है।

ब्यावर, अजमेर
२१.१०.५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३ सर्वोदय का मूल मन्त्र

आप जानते हैं कि जैनधर्म एक बहुत ऊँचा धर्म है, मगर आपको यह भी जानना चाहिए कि उसकी उच्चता आखिर किस कारण है ? जैनधर्म की उच्चता का कारण यह है कि उसकी निगाह खाली शास्त्रों पर ही नहीं है। कोई भी धर्म, शास्त्रों में ऊँची-ऊँची बातें लिखी होने के कारण ही ऊँचा नहीं बन जाता। किसी धर्म को मानने वालों की लाखों करोड़ों की जनसंख्या हो तो भी वह ऊँचा नहीं कहा जा सकता। इसी तरह धर्मस्थानकों में बड़ी भीड़ लगने या चहल-पहल होने से भी धर्म-ऊँचा नहीं बनता है। जैनधर्म के प्रवर्त्तकों ने वास्तविक ऊँचाई के मूल को समझा और चिन्तन एवं विचार किया कि कोई भी धर्म, जो जनता के जीवन से बाहर ही बाहर रहता है, धर्म नहीं है। कम से कम वह उस धर्म की श्रेष्ठता का चिन्ह नहीं है। अतएव जैनधर्म मानता है कि जो धर्म जनता के जीवन में उतर जाता है और प्रतिदिन के व्यवहारों में घुलमिल जाता है और साधारण रहन-सहन में भी व्याप्त रहता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। वहीं से उस धर्म को रोशनी मिलती है। वही ऊँचा है।

पुराने युग की ओर हम दृष्टिपात करते हैं और दूसरे धर्मों के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पाते हैं कि उन्होंने जन-जीवन के साथ अपना मेल नहीं बिठाया। धर्म अलग रहा और जन-जीवन अलग रहा। इस प्रकार दोनों का मेल नहीं हुआ तो जनता का कल्याण भी नहीं हुआ। अतः जैनधर्म ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रेरणा दी। उसने जनता को और धर्म को अलग-अलग नहीं समझा। चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उसकी प्रतिदिन की जिन्दगी धर्म से अलग नहीं है। धर्म मानव-जीवन से भिन्न नहीं हो सकता।

मनुष्य किसी भी सम्प्रदाय या पन्थ का अनुगमन करे, उसके जीवन में धर्म सतत ओतप्रोत रहना चाहिए। जैनधर्म ने जब इस दृष्टिकोण को सामने रक्खा तो उसने दूर-दूर तक की बातें कहीं। उसने हमें सोचने की प्रेरणा दी कि तुम्हें बोलना है, खाना पीना है, उठना-बैठना है या कोई भी काम करना है, तो यह देखो कि इसमें धर्म है या नहीं ? यहाँ तक कि वह चूल्हे और चौके तक भी धर्म को ले गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोटी बनाना है, खाना-कमाना है, मकान बनवाया है, अर्थात् संसार में रहकर जीवन की जिन किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है, उन सब में अगर विवेक है, जनता के कल्याण का विरोध नहीं है, अपने आपको पाप से बचाने की प्रेरणा चल रही है, तो उतने अंशों में वह धर्म है।

जीवन व्यवहार :

जन्म से मरण पर्यन्त, जो भी काम हैं, उन सब के विषय में यही सोचना पड़ेगा कि उनमें तुम धर्म के रूप पर ध्यान देते हो या नहीं ? अगर उक्त प्रेरणाएँ तुम्हारे जीवन-व्यवहार में मौजूद हैं तो कहा जाएगा कि तुमने धर्म की ऊँचाई को समझा है और तुम्हारा जीवन धर्ममय है। और यदि उक्त प्रेरणाएँ व्यवहार में नहीं है, विवेक और जन-कल्याण का भाव नहीं है, तो तुम्हारा जीवन अधर्ममय है।

दुर्भाग्य से जनता ने आज धर्म का दूसरा ही रूप समझ लिया है। लोग समझते हैं कि जब हम मन्दिर, मस्जिद, गिरजा या स्थानक में जाते हैं और वहाँ किसी प्रकार का क्रियाकाण्ड करते हैं तो धर्मोपार्जन कर लेते हैं। और ज्यों ही धर्मस्थान से बाहर निकले कि फिर हमारे जीवन का धर्म से कोई वास्ता नहीं रह जाता।

इस समझ के कारण जन-जीवन कलुषित बन जाता है। जीवन में एक रूपता नहीं पैदा हो पाती। आज का मानव धर्मस्थानक में घड़ी दो घड़ी के लिए जाता है तो धर्म की बातें करता है और किसी रूढ़ क्रियाकाण्ड से चिपट जाता है और ज्यों ही बाहर निकलता है तो अपने आपको धर्म के सभी बन्धनों से विनिर्मुक्त पाता है। जहाँ जीवन में यह बहुरूपियापन है, वहाँ धर्म नहीं है।

मनुष्य रोटी खाकर नहीं कहता कि अब मैं फिर कभी रोटी नहीं खाऊँगा, कमाई का काम करके नहीं कहता कि बस, दो घड़ी कर चुका, अब नहीं करूँगा, मगर धर्म के विषय में कहता है घड़ी-दो-घड़ी धर्म कर लिया है, क्या दिन रात वही किया करूँ।

इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं ने आज जनता के जीवन को धर्म-विमुख बना दिया है।

किन्तु जैनधर्म यह कहता है कि धर्म-स्थान में जाकर विशेष आराधना करते हो, सामायिक-पौषध, स्वाध्याय-ध्यान, भजन स्मरण आदि करते हो, और जीवन का चिन्तन और प्रभु का स्मरण करते हो, सो सब ठीक है। किन्तु धार्मिक कर्त्तव्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाप्ति इतने में ही नहीं हो जाती। तुम्हें जनता के सम्पर्क में जहाँ कहीं जाना हो, धर्म के संस्कार लेकर ही जाना चाहिए। मकान पर और दूकान पर भी धर्म की वासना अन्तःकरण में बनी रहनी चाहिए। देश और विदेश में सर्वत्र धर्म की भावना जागृत ही रहनी चाहिए। नौकरी करते हो तो दफ्तर में या कार्यालय में भी धर्म को साथ लेकर जाना चाहिए। आशय यह है कि जहाँ जीवन है वहाँ धर्म है, धर्म से अलग जीवन नहीं है। इस प्रकार जीवन जब धर्ममय बन जाता है, धर्म के रंग में रंग जाता है, तभी आत्मा का उत्थान होता है।

शास्त्र ने बतलाया है कि साधु की सामायिक जीवन-पर्यन्त के लिए होती है। साधु जब शास्त्रस्वाध्याय करता है, तप करता है, तब भी सामायिक में रहता है और जब गोचरी करता है और भोजन करता है, तब भी सामायिक में रहता है। जब जागता है, तब भी सामायिक में है और जब सोता है, तब भी सामायिक में है। ऐसा नहीं है कि निद्रा के समय सामायिक में अन्तराय पड़ जाता है, फलतः साधुपन जागते समय ही रहता हो और सोते समय न रहता हो।

शास्त्र के इस तथ्य पर कभी आपने विचार किया है ? खाते समय और सोते समय किस प्रकार सामायिक रह सकती है, इस प्रश्न पर आप विचार करेंगे तो धर्म का मर्म आपकी समझ में आ जायगा।

सौरभमय जीवन :

बात यह है कि साधु के जीवन में एक प्रकार की महक आ जाती है। जब महक आ जाती है तो वह रात में भी रहने वाली है और दिन में भी रहने वाली है। रात्रि में कमल बन्द हो जाता है, परन्तु महक उसमें बनी ही रहती है। जब फूल खिल जाता है और महक छोड़ना शुरू कर देता है तो दिन हो या रात, जब तक वह जीवित है, निरन्तर महकता ही रहेगा।

इसी प्रकार हमारे जीवन-पुष्प में जब चारित्र की सुगन्ध पैदा हो जाती है, तो वह दिन और रात निरन्तर महकती ही रहनी चाहिए।

तो साधु जीवन के सम्बन्ध में हम समझते हैं कि सारा ही जीवन सामायिकमय है। किन्तु गृहस्थ की सामायिक कितनी देर की है ? जब यह प्रश्न आता है तो हम चट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कह देते हैं—दो घड़ी की। अर्थात् दो घड़ी से पहले नहीं और दो घड़ी के बाद भी नहीं, किन्तु सिर्फ दो घड़ी तक ही गृहस्थ सामायिक में है।

यह अविचार समाज के जीवन में प्रवेश कर गया है। और इस रूप में जनता ने समझा है कि हमारी सामायिक तो इत्तरिया, इत्वरिक थोड़े काल के लिए है, और साधु की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है, थोड़ी देर के लिए नहीं।

किन्तु जैन धर्म के मर्म को और उसकी गहराई को जब देखते हैं तो मालूम होता है कि गृहस्थ की सामायिक भी यावज्जीवन के लिए होती है, थोड़ी देर के लिए नहीं होती।

श्रावक के द्वादश व्रत :

औपपातिकसूत्र में वर्णन आता है कि यह अणुव्रत रूप से पालन किये जाने वाले अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत, नियम और प्रत्याख्यान आदि गृहस्थधर्म के अंग गृहस्थ की सामायिक है। और यह सामायिक गृहस्थ के जीवन को अधिकाधिक विकास तथा विस्तार में ले जाती है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गृहस्थ के व्रत अगर गृहस्थ की सामायिक है तो क्या व्रत दो घड़ी के लिए होते हैं ? अगर ऐसा नहीं है और वे यावज्जीवन के लिए हैं तो गृहस्थ की सामायिक भी यावज्जीवन के लिए क्यों नहीं है ?

मुझे और भी जगह चर्चा करने का काम पड़ा है और यहाँ भी प्रसंग आ गया है। हमारे सामने एक प्रश्न है। वह यह कि गृहस्थ का धर्म किस चारित्र के अन्तर्गत है?

चारित्र पाँच प्रकार के हैं—

'सामायिक—छेदोपस्थाप्य—परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातानि चारित्रम्।'

— *तत्त्वार्थसूत्र*।

(१) सामायिक (२) छेदोपस्थान (३) परिहारविशुद्धि (४)सूक्ष्मसम्पराय और (५) यथाख्यात—यह पाँच चारित्र हैं।

गृहस्थ के द्वादश व्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ आदि जो चारित्र हैं, उसे इन पाँच में से किसमें सम्मिलित करें ? यह प्रश्न सामने आने का विचार करने वाले साथी लड़खड़ाते रहे और कहने लगे—गृहस्थ के चारित्र ही कहाँ हैं ? उसके तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्राचारित्र हैं। परन्तु मैं कहता हूँ कि यह ठीक है कि कुछ चारित्र हैं और कुछ नहीं हैं। तो जो नहीं हैं उसकी बात नहीं करते; पर हम यह जानना चाहते हैं कि जो चारित्र हैं, वह कहाँ का है ? किस चारित्र का भाग है ?

जो इस प्रकार नहीं समझते, उनसे मैं पूछता हूँ कि जो संवरद्वार हैं, उन्हें किस जगह रक्खा जाय ?

परिषह-विजय साधु के लिए ही कहे जाते हैं। यद्यपि हम ऐसा नहीं मानते, मगर हमारे साथी ऐसा मानते हैं। इसी प्रकार पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ भी साधु के लिए सुरक्षित रख ली गई हैं। उनमें भी गृहस्थ का प्रवेश नहीं है। और क्षमा आदि दस धर्म भी साधु के लिए ही हैं। यह सब साधु के लिए ही हैं तो इनके बाद में गिने जाने वाले पाँच चारित्र भी साधु के लिए ही होने चाहिए। इस प्रकार गृहस्थ के अहिंसा और सत्य आदि व्रत अगर संवर में स्थान नहीं पा सकते तो फिर क्या उनकी गणना आस्रव में की जायगी ? यानी गृहस्थ का सब का सब धर्म, जो एक से एक उच्च दर्जे का है, उसे संवर में गिनें या आस्रव में ? यह तो कोई नहीं कह सकता कि साधु की अहिंसा और सत्य तो संवर के अन्तर्गत हैं और गृहस्थ की अहिंसा और सत्य आदि आस्रव में सम्मिलित हैं।

अच्छा, गृहस्थ का धर्म अगर आस्रव के अन्तर्गत नहीं है तो संवर के अन्तर्गत होना चाहिए और यदि संवर के अन्तर्गत है तो प्रश्न फिर वही आया कि किस संवर के अन्तर्गत है ? यही प्रश्न सबसे जटिल है। संवर में चारित्र पाँच ही हैं और यदि उनमें से गृहस्थ के व्रतों की किसी में भी गणना नहीं हो सकती तो गृहस्थ की भूमिका क्या मूलतः अलग है ? सिद्धान्त को देखने से ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। अगर कोई आगमों का अध्ययन और मनन ही न करे तो आगमों का क्या दोष है ? कोई भूला-भटका प्यासा, एक-एक बूंद के लिए तरसता हुआ गंगा के किनारे पहुँच जाय और खड़ा-खड़ा एक-दो घड़ी गुजार दे और कहे कि मैं गंगा के किनारे आकर भी प्यासा हूँ तो इसमें गंगा का क्या दोष है ? यह तो उसकी बुद्धि का ही दोष है कि वह किनारे पर खड़ा रह कर भी गंगा के पानी का उपयोग नहीं करता है।

तो यही बात शास्त्र के सम्बन्ध में भी है। हमारे कई साथी किनारे पर खड़े रहते हैं किन्तु शास्त्रों की गहराई में डुबकी नहीं लगाते। वे मिसरी को जेब में रखकर घूम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे हैं और शिकायत करते हैं कि मिठास नहीं आ रही है ! अरे भाई, मुँह में डाले बिना मिसरी की मिठास कैसे आएगी ? इसी प्रकार शास्त्रों का चिन्तन, मनन और विश्लेषण करने पर भी अगर रस न आए तो विचार किया जा सकता है, किन्तु हमारे आगमों में तो सभी प्रश्न सुलझे पड़े हैं । हमारी उलझन तो समाज में है, शास्त्रों में नहीं ।

हाँ, तो औपपातिक सूत्र में स्पष्ट वर्णन आता है कि–

अगारधम्मं दुवालस्सविहं आइक्खइ तंजहा-पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं ।

पंच अणुव्वयाइं तंजहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाओवेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणं ।

तिण्णि गुणव्वयाइं तंजहा-अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्व्यं, उवभोग-परिभोग परिमाणं ।

चत्तारि सिक्खावयाइं तंजहा-सामाइयं, देसावगासियं पोसहोववासे, अतिहिसं-बिभागो ।

अपच्छिम मारणांतिया संलेहणां झूसणाराहणाए ।

अयमउसो ! अगारसमाईए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासियावा, विहरमाणे आणाए आराहए भवंति ।

– *१३४ धर्म देशनाधिकार ।*

गृहस्थ के अणुव्रत आदि बारह व्रत हैं, यही सामायिक है और यह सामायिक, सामायिक चारित्र का अंग है । अब आप विचार कर सकते हैं कि सामायिक चारित्र क्या केवल दो घड़ी के लिए ही होता है ?

सामायिक की काल मर्यादा :

जीवन-पर्यन्त कहा जा सकता है कि श्रावक की सामायिक यदि निरन्तर चलती रहती है, तो फिर दो घड़ी तक सामायिक करने की जो परम्परा चल रही है, वह क्या गलत है ? यह परम्परा क्यों चली ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, सुबह-शाम दो घड़ी तक की जाने वाली सामायिक विशिष्ट सामायिक है और उस सामायिक को करनें का विधान तो मुनियों के लिए भी था ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक छह हैं, और अनुयोगद्वार में उल्लेख है* कि दोनों काल छहों आवश्यक करने चाहिएँ। अब आप बतलाएँ कि साधुओं की सामायिक जब निरन्तर जारी रहती है तो फिर दोनों काल सामायिक करने का विधान उनके लिए क्यों किया गया? उनका प्रत्याख्यान भी सैदव बना रहता है, फिर प्रत्याख्यान आवश्यक करने की क्या आवश्यकता है?

अभिप्राय यह है, कि आवश्यक की सामान्य धारा तो निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, किन्तु उसे वेगवान्, स्फूर्तिमय और सबल बनाने के लिए सुबह-शाम विशेष रूप से सामायिक आदि आवश्यक करने का विधान है। यही विधान गृहस्थ के लिए है और यही साधु के लिए भी है।

प्राचीन काल में यह बड़ी अच्छी बात थी कि प्रतिक्रमण खुले बदन ही किया जाता था, जिससे उस समय आने वाले कष्टों को, समभाव से, अधिक सहन किया जा सके।

इस रूप में जितना देर प्रतिक्रमण चले, उतनी देर तक विशिष्ट सामायिक करने का हमारे लिए भी पुरातन विधान था।

मतलब यह, है कि श्रावक में भी सामायिक चारित्र होता है और वह दिन-रात, घर में और घर से बाहर भी चलना चाहिए। घर में हो तब भी और दूकान में हो तब भी, वह सामायिक चालू ही रहनी चाहिए। अहिंसा और सत्य की वह सामायिक, जिसकी शिक्षा औपपातिक सूत्र में है, सोते-जागते, धर्म-स्थानक में, दूकान में और मकान में, सर्वत्र सर्वदा चलना चाहिए। आपका श्रावकपन ऐसा नहीं है कि जब धर्मस्थान में आये तो आ गया और जब धर्म स्थान छोड़ कर घर पर पहुँचे कि चला गया। वह तो जीवन-पर्यन्त निरन्तर कायम रहने वाला है। इसका अर्थ यह है कि संवर-रूप में सामायिक धर्म है और वह जीवन पर्यन्त के लिए है।

इस प्रकार जैनधर्म ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रेरणा रक्खी है कि धर्म जनता के जीवन के साथ घुल-मिल जाना चाहिए।

---

* समणेणं सावएण य अवस्स कायव्वं हवइ जम्हा,
अंतो अहोनिसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ जीवन है वहाँ सामायिक है और जहाँ सामायिक है वहाँ धर्म है। इस तरह जीवन, सामायिक और धर्म को एक रूप में समझ लेने पर सारी स्थिति ही बदल जाती है और एक बहुत बड़ी भ्रान्त धारणा दूर हो जाती है।

आज सामान्य रूप से लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि धर्म स्थान में आये और सामायिक कर ली और ज्यों ही सामायिक पार ली कि फिर उससे कोई सरोकार नहीं। फिर आएँगे और फिर दो घड़ी सामायिक कर लेंगे ! जैसे विदेशों में धर्म रविवार के रविवार, गिर्जे में करने की चीज रह गई है, उसी प्रकार हमारी सामायिक भी दो घड़ी पालन करने की वस्तु बन गई है। कई लोग तो पर्युषण पर्व के आठ दिनों में ही आते हैं और धर्म कर लिया करते हैं, फिर साल भर के लिए फुरसत पा लेते हैं। फिर पर्युषण पर्व आया तो फिर लूट का माल लेने आ पहुँचते हैं।

अधिकांश लोगों की इस प्रकार की मनोवृत्ति क्यों है ? इसका प्रधान कारण तलाश करेंगे तो मालूम होगा कि धर्म और जीवन को अलग-अलग समझना ही इसका कारण है। वास्तव में धर्म हमारे जीवन का अंग है और श्वास की तरह जीवन के साथ रहना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नियम भी जीवन के साथ घुले-मिले रहने चाहिए।

अस्तेय व्रत की साधना :

बात यहाँ अस्तेय की चल रही है। जो बात अहिंसा और सत्य के सम्बन्ध में है, वही अस्तेय के सम्बन्ध में भी है। अस्तेय हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। हमें सोचना है कि उसका नम्बर तीसरा क्यों है ?

अहिंसा और सत्य की कसौटी अस्तेय है। आपने अहिंसा और सत्य का नियम ले लिया है, परन्तु वह आपके जीवन में कितना विकसित हुआ है अथवा नहीं हुआ है, इस बात की परीक्षा अस्तेय के द्वारा ही होती है।

एक आदमी जीवन के लिए दो रोटियाँ तलाश करने को इधर-उधर काम करता है। और जब घर से निकल पड़ता है तो संघर्ष में लग जाता है। वहाँ वह यही विचारता है कि भले न्याय से मिले या अन्याय से, रोटी मुझे मिलनी ही चाहिए। उसके लिए दूसरों का खून बहता हो तो बहे, पसीना बहता हो तो बहे, मेरी रोटी में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। दूसरे का हक है तो भले रहे, पहले मुझे मिलनी चाहिए। दूसरा भूखा है तो मेरी बला से, मुझे कोई कमी न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी परिस्थिति में अहिंसा और सत्य की जड़ें हिल जाती हैं। अहिंसा की कसौटी किसी धर्मस्थान में बैठने पर नहीं होती वह तो जीवन-व्यवहार में होती है। धर्म-क्षेत्र में नहीं, कर्म-क्षेत्र में होती है। इसी प्रकार किसी ने सत्य भाषण करने का नियम ले लिया है, तो दो घड़ी के लिए धर्मस्थान में बैठने पर उसके सत्य की परीक्षा नहीं होगी। सत्य की परीक्षा तो वहीं होगी जहाँ आप जीवन के लिए संघर्ष करेंगे अगर आप वहाँ अस्तेय व्रत का पालन करते हैं, न्याय-नीति से ही जीवन-व्यवहार चलाते हैं, दूसरों का हक नहीं छीनते हैं, प्रामाणिकता पूर्वक जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त करते हैं, तो समझा जायगा कि आपका अहिंसा और सत्य व्रत अक्षुण्ण है। इस प्रकार अचौर्य व्रत, सत्य और अहिंसा की कसौटी है, निचोड़ है, फल है।

गृहस्थ जीवन में भिक्षा निषेध :

जब तक मनुष्य घर गृहस्थी में रहता है, अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ व्यापार करना उसके लिए आवश्यक है। उसे साधु की तरह झोली लेकर भिक्षा नहीं माँगनी है। उसे तो पुरुषार्थ से कमाना है। एक आचार्य ने कहा है कि जो गृहस्थ सशक्त है, जिसमें काम करने की शक्ति है, वह यदि अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता और केवल भिक्षावृत्ति के ऊपर ही जीवन-निर्वाह करता है, तो वह देश और समाज की चोरी कर रहा है। वह राष्ट्र का गुनहगार है। आचार्य हरिभद्र ने उसकी भिक्षा को 'पौरूषध्नी' भिक्षा बतलाया है। ऐसी भिक्षा उसके पुरुषार्थ को टुकड़े-टुकड़े कर देने वाली है।

जिस देश में ऐसी भिक्षा की प्रणाली होगी, उस देश के नागरिकों के व्यक्तित्व की ऊँचाई नष्ट हो जायगी। न भिक्षा लेने वाला ही ऊँचा चढ़ेगा, न देने वाला ही ऊँचा चढ़ सकेगा। वह अकर्मण्यता पैदा करेगी। इस प्रकार भिक्षा मांगने वाला, भिक्षा के द्वारा अगर हजारों रुपये भी पैदा कर लेता है, तो भी वह प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

साधुओं के लिए भी कहा है कि वास्तव में जो साधु-वृत्ति का पालन नहीं करता और भिक्षा के द्वारा जीवन चला रहा है, उसकी भिक्षा भी आत्म-पुरुषार्थ रूप संयम को नष्ट करने वाली है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह है कि समर्थ और सशक्त आदमी को गृहस्थी में रहते हुए भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं हैं। उसे निर्वाह के लिए पुरुषार्थ करने का अधिकार है।

दो आदमी मिलते हैं। उनमें से एक कहता है, मैं नौकरी करता हूँ या मजदूरी करता हूँ और अपनी रोटी कमाता हूँ। दूसरा कहता है कि मैं तो कुछ भी नहीं करता। सब कुछ करने में पाप है। अतः मैं भिक्षा लाकर खा लेता हूँ। आरम्भ-समारम्भ के झगड़े में नहीं पड़ता।

इस प्रकार एक मनुष्य जीवन निर्वाह के लिए पुरुषार्थ करता है और दूसरा संसार त्यागी न होता हुआ भी भिक्षावृत्ति करता है तो आप इनके विषय में क्या कहते हैं? किसे पापी और किसे पुण्यात्मा कहते हैं?

जैन समाज भी 'प्रासुक' और 'निरवद्य' के रहस्य को ठीक तरह ध्यान में न रखकर भ्रम में पड़ गया है। किसी समय यही शब्द अत्यन्त महान् थे, और उनमें पवित्रता का भाव था, पर आज उनका उपहास-सा किया जा रहा है। इन शब्दों के गलत प्रलोभन में पड़कर लोग दलदल में फँस रहे हैं। जो व्यक्ति अकर्मण्यता के वशीभूत होकर, प्रमाद का शिकार होकर, पुरुषार्थ का त्याग कर देता है और सीधी निरवद्य रोटी खाता है, वह निरवद्य की महान् कला को भूल गया है। ऐसा करने वाला प्रमादी, धार्मिक नहीं, अधार्मिक है।

इस प्रकार पुरुषार्थ करके रोटी कमाना गृहस्थ का धर्म है, मगर रोटी-रोटी के ढंग से कमानी है। उस ढंग का जब विचार किया तो जीवन में व्यापार आ गया। तो व्यापार करना गुनाह नहीं है और पुरुषार्थ करना अधर्म नहीं है, किन्तु अपने उत्तरदायित्व को न्याययुक्त पूरा न करना अधर्म है।

अस्तेयव्रत बतलाता है कि मनुष्य किस प्रकार का पुरुषार्थ करे और किस ढंग से अपनी आजीविका चलाए? मनुष्य का जीवन धर्मस्थान में और दुकान में एक रूप होना चाहिए।

व्यापार की गरिमा :

मैंने कहा था कि दूकान हमारी संस्कृति का केन्द्र है। दूकान पर सैकड़ों आदमी आते हैं और चहल-पहल रहती है। वह एक गद्दी है। उसके द्वारा दूकानदार जनता के चित्त में प्रेम का संचार कर सकता है और धर्म तथा नीति की छाप अंकित कर सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसके विपरीत जो गद्दी पर प्रामाणिक नहीं है, वह अपने को और अपने देश और समाज को बदनाम कर सकता है। यह उसके हाथ में है कि वह अपने धर्म, देश, समाज और राष्ट्र की कालिख को धो डाले या और पोत दे।

मैं व्यापारी की महत्ता तभी मानता हूँ, जब वह एक रूप हो। अर्थात् कोई भी बालक, बूढ़ा, बहिन, जान-पहचान का या अनजान व्यक्ति आए तो वह किसी से भी धोखा न करे और यही समझे कि जैसे मेरा बालक, बाप, बहिन आदि हैं, उसी प्रकार यह भी समाज के अंग होने से मेरे हैं। और जब मैं अपने घर वालों के साथ किसी प्रकार का धोखा नहीं करता, तो इनके साथ भी मुझे धोखा नहीं करना चाहिए। जैसे मैं अपने परिवार के प्रति प्रामाणिक हूँ, उसी प्रकार मुझे इनके प्रति भी प्रामाणिक होना चाहिए। इस प्रकार की प्रामाणिकता जिस व्यापारी में आ गई है, वही आदर्श और धार्मिक व्यापारी है। और जिसमें यह प्रामाणिकता नहीं, वह गद्दी पर बैठकर अपना और दूसरों का जीवन नष्ट कर रहा है। वह धार्मिक क्रिया-काण्डों का कितना ही क्यों न प्रदर्शन करे; सच्चे अर्थ में धार्मिक नहीं है।

किसी भी धर्म के अनुयायी की अपने धर्म के प्रति यही सबसे बड़ी सेवा है कि वह अपने जीवन व्यवहार में एकरूपता रक्खे। जिसने यह कला प्राप्त कर ली है, उसने शानदार धार्मिकता प्राप्त कर ली है। उसके पास चाहे बूढ़ा आए, चाहे अबोध बालक आए, चतुर आए या मूर्ख आए, सब के साथ उसका व्यवहार एकरस ही होगा। वह अपनी प्रामाणिकता का रेकार्ड कायम कर लेगा। जो ऐसा कर लेता है, मैं समझता हूँ कि वह बड़ा काम कर रहा है। वह अपने जीवन को उत्कर्ष की भूमिका पर पहुँचा रहा है और साथ ही अपने धर्म का, देश का और समाज का गौरव बढ़ाकर उनकी महान् सेवा कर रहा है।

भला, मुँह देख तिलक लगा देना भी कोई भलमनसाहत है ! आप पहुँचे तो एक रूप और दूसरा पहुँचा तो दूसरा रूप ! यह तो बहुरूपिये की तरह रहना है और गिरगिट की तरह रंग बदलना है ! ऐसी जगह सत्य और अहिंसा नहीं रहती। अतएव भगवान् महावीर की आज्ञा है कि जहाँ कहीं भी रहो, इस प्रकार रहो कि आपस में किसी प्रकार की कटुता न आए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे एक जैन गृहस्थ की बात याद है। शहर में एक भद्र ग्रामीण आया। उसने सोने की कंठी बनवाई थी। सुनार की दुकान से कंठी लेकर दूसरा सौदा खरीदने के लिए वह उस जैन गृहस्थ की दूकान पर गया। उसने सौदा ले लिया और कंठी वहीं भूल गया। अपना शहर का काम पूरा करके वह गाँव की ओर चल पड़ा। आधे रास्ते में पहुँचा तो ध्यान आया की कंठी नहीं है ! बहुत सोचने विचारने पर भी ख्याल न आया कि वह कंठी कहाँ भूल आया है? वह कई जगह बैठा था और उसे याद नहीं था कि कंठी किसकी दूकान पर रह गई।

वह घबराया हुआ शहर की ओर लौटा। अपनी पैनी दृष्टि से दूकानों पर देखता चला जा रहा है। पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती। बिना पते के पूछे भी तो किससे पूछे ? चलता-चलता वह उसी जैन गृहस्थ की दूकान के सामने होकर निकला। उसने सोचा इस दूकान पर भी मैं बैठा था। वह बड़ी दूकान थी। कंठी के विषय में पूछने का साहस उसे नहीं हो सका।

जैन गृहस्थ ने उस कंठी को संभाल कर रख लिया था। और सोचा था कि वह लौट कर आएगा तो दे दूँगा, और यदि नहीं आया तो कोतवाली में जमा कर दूँगा।

दूकानदार ने उसे मुँह लटकाए, दूकान की ओर देखते हुये देखा तो कहा, भाई, जरा इधर आना ! क्या तुम्हारी कोई चीज गुम हो गई है ?

आगन्तुक-हां, गुम तो हो गई है।

दूकानदार—कहाँ ?

आगन्तुक—यह तो कुछ याद नहीं आता। कई जगह बैठा था

दूकानदार—क्या चीज थी ? और कहाँ से ली थी ?

आगन्तुक ने चीज का नाम बतला दिया और सुनार का नाम भी बतला दिया।

दूकानदार ने कंठी उसे लौटा दी और कहा—जरा सावधानी रखनी चाहिए, वर्ना कभी ठोकर खाओगे।

कंठी का मालिक, दूकानदार के पैरों पर गिर पड़ा। बोला—आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।

कंठी वाला अपने गाँव पहुँचा। उसने गाँव में दूकानदार की प्रशंसा में कहा, "वह मनुष्य नहीं, देवता है। हाथ में पड़ी हुई चीज को उसने लौटा दिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि सारा गाँव उसका ग्राहक हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो अपनी प्रामाणिकता के कारण जनता का विश्वास-भाजन बनेगा, वह अपने आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठा सकेगा और लोक-दृष्टि से भी टोटे में नहीं रहेगा। मगर ऐसा करने के लिए पहले-पहल प्रलोभन का त्याग करने की आवश्यकता है और कदम-कदम पर बड़े संयम की अपेक्षा है। आरम्भ में थोड़ा नफा लेना शुरू कर दिया तो आगे चलकर वह थोड़ा नफा ही उसके लिए बड़ा नफा बन जायगा। हमारे आचार्यों ने कहा है—

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।

पढ़ो तो लूट मत करो। यह मत करो कि यह भी पढ़ लिया और वह भी पढ़ लिया और दुनिया भर की किताबों को पढ़ लिया। अति अध्ययन जीवन में गहराई पैदा नहीं करेगा।

इसी प्रकार धन को भी एक बारगी ही लूट लेने की हवस जीवन को ऊँचा नहीं उठने देगी।

खेत में एक बार ही मूसलधार वर्षा हो जाय और जल-थल एक कर दे तो इस रूप में पड़ा हुआ पानी खेती को बनाता है या बिगाड़ता है ? ऐसी वर्षा फसल को विनष्ट कर देगी और ज़मीन को भी बर्बाद कर देगी। किन्तु सावन और भादों में, जब आकाश में झूमती हुई घटाएँ आती हैं और रिमझिम बूँदें बरसती हैं, यह एक-एक बूंद भारतवर्ष की भूमि पर सोना-चाँदी उगलती है। फलतः बड़ी सुन्दर फसल उपजती हैं।

स्मरण रक्खो कि एकदम से आया हुआ पानी का प्रवाह कुछ देकर नहीं, लेकर जाता है, सहसा आई हुई बाढ़ किसी का भी कल्याण नहीं करती, बल्कि मुसीबतें ढा देती है, इसी प्रकार सहसा बिन श्रम और बिना प्रामाणिकता के प्राप्त हुआ धन भी कल्याणकारी नहीं होता।

न्याय से प्राप्त धन :

हमारे यहाँ के कमाई करने वालों को चाहिए कि वे रुपयों की बाढ़ के रूप में कमाई न करें—छापामार बन कर दुनिया की फसल को नष्ट न करें। जो छापामारी करते हैं, वह अपने परिवार पर भी अच्छे संस्कार नहीं छोड़ते। परिवार में भाई-भाई में और माता-पिता में भी पारस्परिक सद्भावना क्यों दिखाई नहीं देती ? दूसरों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन चूस-चूस कर जो कमाई की जाती है, वह एक प्रकार की आग है। वह जहाँ जाती है, वहीं शान्ति को जला देती है। दूकान में भी वह अशान्ति ही पैदा करती है और घर में भी। अनीति की कमाई परिवार के लोगों के जीवन को भी गला देती है। ऐसे धन को धर्मशास्त्रों ने भी अशान्ति का मूल कारण बतलाया है और न्यायोपार्जित धन को शान्ति का कारण बतलाया है। आचार्य हरिभद्र ने तो साफ कहा है –

'न्यायोपात्तं हि वित्तमुभय-लोक-हिताय'।

– *धर्म-विन्दु-प्रकरण।*

न्याय से उपार्जित धन दोनों लोकों में कल्याणकर होता है। जो लोग धन को यहीं के हित के लिए समझते हैं, उन्होंने बड़ी गड़बड़ी पैदा की है। ऐसी समझ से चलने वाले अपनी सन्तान के लिए भी इस लोक से विदा होते समय गलत चीज छोड़कर जाते हैं और परलोक में भी उनको उनके काम के सुन्दर फल प्राप्त नहीं होते। इसीलिए आचार्यों ने न्यायोपात्त धन को उभय लोक के हित के लिये बताया है। मतलब यह है कि मनुष्य को धन कमाते समय इस लोक और परलोक–दोनों ओर अपनी आँखें रखनी चाहिए।

पैसा अपने आप में कोई बुरी या भली चीज नहीं है। उसकी पृष्ठभूमि में रही हुई मनोवृत्ति ही भलाई-बुराई की जननी है।

अगर पैसा न्याय से कमाया हुआ है और उसके लिये गरीबों के खून की होली नहीं खेली गई है, तो ऐसी न्याययुक्त कमाई करने वाला अपने प्रस्तुत लोक में भी हँसता हुआ, निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर, चलता है और परलोक में भी।

न्याययुक्त धन का दान इस लोक में लेने वाले के हक में बरकत करता है और दाता के भी दोनों लोकों को हितकर बनाता है। इसके विपरीत अन्याय का धन इस लोक में तो गड़बड़ करता ही है, परलोक में भी गड़बड़ करना शुरू कर देता है।

इसीलिये कहा जाता है कि गृहस्थों के जीवन में अगर न्यायनीति हो, प्रामाणिकता हो, तो वह साधुओं के जीवन को भी सुन्दर बना देती है। साधु चाहे संख्या में थोड़े ही हों, उनका जीवन सत्य के रंग से रंगा हुआ होना चाहिए। साधुता से युक्त साधु तो थोड़े ही होते हैं। हर किसी को झोली पकड़ाने से क्या लाभ? भारतवर्ष में आज साधुओं की जो बाढ़ आ गई है, वह कल्याणकर नहीं है। सच्ची साधुता तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थोड़ों में ही मिलेगी। एक कवि ने कहा है–

साधवों न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।

वास्तव में इस देश में अब इतनी बाढ़ की जरूरत नहीं, बाढ़ का पानी देश को डुबाने वाला होता है। यहाँ तो कुए का जल चाहिए। प्रामाणिकता और सत्य के जल से लबालब भरे हुए थोड़े ही साधक हितकर होते हैं। इसी तरह न्यायपूर्वक धन कमाने वाले थोड़े ही मिलेंगे पर वे ही देश के सच्चे हितचिन्तक हैं। ऐसे मुट्ठी भर व्यक्ति भी देश के नैतिक धरातल को ऊँचा उठा सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कमाया हुआ धन कुए के जल के समान होता है। जैसे कुए का जल पत्थरों में से छनछन कर, पवित्र और शीतल बनकर आता है और सैकड़ों वर्षों तक लोगों की प्यास बुझाता रहता है। उसी तरह न्यायोपात्त धन भी प्रामाणिकता और सत्य से छन कर आता है और वह देशवासियों को चिरकाल तक शान्ति देने वाला होता है। ऐसे धन ने ही एक दिन देश के व्यापार को समृद्ध बना दिया था। भारत की प्रामाणिकता की छाप नीतिपूर्ण कमाई के कारण ही विदेशों पर पडी थी। चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में तो, इतिहास कहता है, घरों में ताले भी नहीं लगाये जाते थे। उस समय इस देश की नैतिकता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी। भारत के व्यापारियों ने चीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों में व्यापार किया, पर अपनी नैतिकता और प्रामाणिकता नहीं खोई। उन्होंने उन देशवासियों पर अपनी नैतिकता की वह छाप छोड़ी, जिसके चिन्ह आज भी यत्र-तत्र उन देशों के सांस्कृतिक जीवन में बिखरे पड़े हैं। इसीलिए भारत में, प्राचीन काल में, प्रत्येक परिवार में, यह सुवर्णसूत्र प्रचलित था–'अगर तू दूकानदारी करना चाहता है तो न्याय से ही धन की कमाई कर। वही तेरी जिन्दगी को हराभरा रख सकेगी।'

परन्तु खेद है कि आज भारत ने अपनी नैतिकता को भुला दिया है। आज बेईमानी और चोरबाजारी इतनी बढ़ गई है कि सारे देश में इसने अनीति की आग लगा दी है। यह देश, आर्य देश नहीं, अनार्यों का सा देश बन गया है। चोर-बाजारी करने वालों ने सारे देश को कलंकित कर रक्खा है। इससे चोर-बाजारी करने वालों का नैतिक पतन होता है, सो तो होता ही है, समग्र देशवासियों का भी नैतिक बल क्षीण होता जा रहा है।

आज भारत की नैतिकता को टटोलेंगे तो मालूम पड़ेगा कि ९० फीसदी नैतिकता गायब हो गई है। यही कारण है कि आज धर्मस्थानों में भी लोगों की जेबें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कट जाती हैं। ऐसे पवित्र स्थानों में भी जूते चुरा लिए जाते हैं। जिस देश में, धर्मस्थानों में भी जूते सुरक्षित नहीं रहते, वहाँ की नैतिकता कितनी गिर गई है, वह अनुमान करना कठिन नहीं है।

अग्निकुमार की प्रामाणिकता :

भारत के इतिहास में अग्निकुमार नामक एक भाई की कहानी आती है। एक बार वह किसी दूकानदार की दूकान के बाहरी बरामदे में सो गया। दूकानदार संध्या समय अपनी रोकड़ मिलाते समय, अशर्फियाँ गिन रहा था। उसने गिन-गिना कर रोकड़ मिलाई और दूकान बंद करके घर चला गया। पर भूल से वहाँ एक अशर्फी पड़ी रह गई। अग्निकुमार बाहर सोया हुआ था। उसके पास बिछाने के लिए टाट का एक टुकड़ा ही था। अचानक ही उसे कोई चीज टाट के नीचे गढ़ने लगी। उसने हाथ लगाकर देखा तो अशर्फी।

अग्निकुमार ने सोचा-कल दूकानदार अशर्फिया गिन रहा था, उसी की यह अशर्फी बाहर रह गई होगी। सुबह जब दूकानदार वापिस आया, तब वह अग्निकुमार वहीं बैठा रहा। उसने दूकानदार से आते ही कहा—भाई बहुत देर से आये। अब अपनी दूकान संभाल लो। मैं जा रहा हूँ।

दूकानदार—दूकान तो सँभली हुई ही है, इसका क्या सँभालना है ? दूकान का ताला बंद था और तुम बाहर ही थे। मेरे लिए इतना समय क्यों खराब किया ?

अग्निकुमार—मैं चला तो जाता, पर इस अशर्फी ने नहीं जाने दिया। अचानक रात्रि में यह गढ़ने लगी। देखा, अशर्फी है। सोचा, तुम्हारी ही होगी। रात भर, इसकी चिन्ता में नींद नहीं आई। निश्चय किया, सुबह इसे सँभला कर ही अपना रास्ता लूँगा।

दूकानदार अग्निकुमार की सचाई और प्रामाणिकता देख कर मुग्ध हो गया। उसने अग्निकुमार का बड़ा सत्कार किया, उसे धन्यवाद दिया और अशर्फी लेकर कहने लगा, लो, यह अशर्फी मैं तुम्हें इनाम में देता हूँ।

बहुत मनुहार करने पर भी अग्निकुमार ने अशर्फी लेना स्वीकार न किया।

इसे कहते हैं प्रामाणिकता का जीवन। जिसके जीवन में प्रामाणिकता और न्यायनीति होती है, वह किसी भी सच्ची बात को कहते हुए हिचकता नहीं है। फलतः चाहे वह कितना ही क्यों न गरीब हो, सर्वत्र उसका आदर होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के भारतीय लोगों के जीवन में प्रामाणिकता और नीति का जो ह्रास हो गया है, उस देखकर किस विचारक को मार्मिक व्यथा न होगी ? देश के लिए यह बड़ा ही अशुभ लक्षण है। वर्तमान युग में इस देश के निवासियों का जितना नैतिक पतन हुआ है, संभवतः पहले कभी नहीं हुआ था।

पर, इसका इलाज एक ही है। आर्य ऋषियों ने अस्तेय की भव्य भावना का जो उच्च आदर्श प्राचीन काल में जनता के समक्ष रक्खा था, उसको पुनर्जागृत किए बिना काम नहीं चलेगा। अस्तेय वृत्ति का विकास ही इस देश की संस्कृति और पवित्र परम्परा को कायम रख सकता है।

ब्यावर, अजमेर
१-११-५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४

विवेक परम धर्म

मनुष्य का जीवन किस प्रकार ऊँचा उठ सकता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर संसार के सभी धर्मों ने विचार किया है। सभी ने अपने-अपने ढंग से, जीवन को उच्च स्तर पर पहुँचाने के उपायों का भी निर्देश किया है। परन्तु मानव जीवन के उच्चतम विकास की विचारणा जैनधर्म ने जिस ऊँचाई तक की है, वह अन्यत्र बहुत कम दिखलाई पड़ती है। जीवन के विकास का जो चरम आदर्श जैनधर्म ने प्रस्तुत किया है, उसकी समानता अन्यत्र कहाँ है। हमारे कुछ साथियों ने देवी-देवताओं की आराधना और गुलामी में जीवन की उच्चता की अभिव्यक्ति देखी, देवी-देवताओं को उच्चतम मानवीय विकास का चरम प्रतीक माना, पर, जैनधर्म ने कहा कि मनुष्य का जीवन उस स्तर तक ऊँचा उठ सकता है कि देवता भी उसके चरणों में नमस्कार करके अपने आपको धन्य और कृतार्थ समझें। और इस स्थिति पर पहुँचकर भी विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं हो जाता। मनुष्य उससे भी आगे चलता है और साक्षात् परमात्मतत्व की उपलब्धि करके ही कृतकृत्य होता है।

पर जान पड़ता है, आज जैनधर्म के अनुयायी भी उस ऊँचाई को नहीं समझ पा रहे हैं। उनका हृदय इतना संकीर्ण और मस्तिष्क इतना क्षुद्र हो गया है कि वह विराट और विशाल उच्चता, आज उनमें समा नहीं रही है।

दूसरे लोग भूल करें तो करें। उनकी भूल समझ में आ जाती है, पर जैनधर्म का अनुयायी जब इस विषय में भूल करता है, तो विस्मय भी होता है और खेद भी होता है। हम समझते हैं कि उन्होंने भगवान् महावीर की वह वाणी, भुला दी है, जिसमें कहा गया है

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

– *दशवैकालिक, १, १*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न है कि हम संसार में आनन्द और सुखशान्ति कहाँ से पाएँ। चींटी से लेकर स्वर्ग के देवी-देवता तक उस शान्ति और सुख की तलाश में हैं और दुःख से अपने जीवन को बचाना चाहते हैं। पर वह आनन्द है कहाँ ?

भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार तो वह आनन्द, न धन में है, न परिवार में है और न दुनिया के किसी अन्य सुखोपभोग में है। संसार के वैभव जितने बढ़ते जाते हैं क्या आनन्द भी उतना ही बढ़ता जाता है ? ऐसा तो दिखाई नहीं देता। कभी-कभी जब वैभव बढ़ता जाता है तो आनन्द कम होता जाता है और जीवन का रस सूखता जाता है। विचारने वाले लोग कभी-कभी महसूस करते हैं कि यह क्या हो गया।

धन आज है, कल नहीं :

एक भाई हमारे भक्तों में से है। वह पहले गरीब था, अब मालदार है। एक दिन उसने हमारे सामने अपना अन्तर खोल कर रक्खा। कहने लगा, जब मैं गरीब था तो देने की बुद्धि होती थी। कोई स्वधर्मी बन्धु आता तो उसे अच्छे से अच्छा भोजन खिलाने की और प्रेम से जिमाने की इच्छा होती थी। घर में किसी चीज की जरूरत पड़ती तो टालने की आदत नहीं थी। समझता था कि—पैसा आज है, और कल नहीं है। अतः जो कुछ मिला है, उसका उपयोग क्यों न कर लूँ ? किन्तु ज्यों-ज्यों पैसा बढ़ता गया, वह बुद्धि घटती गई। अब वैसे भाव नहीं आते हैं। दान लेने को कोई आता है तो मन मार कर देता हूँ। वह उत्साह निकल गया है।

यह बात उसने स्पष्ट रूप में कही तो मैंने कहा—तुम भाग्यशाली हो कि तुम्हें अपने मन का पता तो है। प्रायः लोगों को अपने मन का पता ही नहीं होता कि वह बना है या बिगड़ा है।

इस प्रकार धन, वैभव प्रतिष्ठा की वृद्धि होने पर कदाचित् कुछ औपचारिक सुख और शान्ति भी मिल जाय, किन्तु जो सत्कर्म का उत्साह मनुष्य में बना रहना चाहिए, वह नहीं रहता है।

अतएव भगवान् ने कहा है कि असली आनन्द और मंगल तो धर्म में है। अगर उस पैसे के साथ धर्म आ रहा है, धर्म के संस्कार आ रहे हैं तो आनन्द बना रहेगा। प्रतिष्ठा और इज्जत मिल रही है तो तदनुसार कर्त्तव्य के प्रति प्रेरणा भी बनी रहनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए–प्रेरणा बनी रहेगी और इस प्रकार सहर्ष कर्त्तव्य का पालन होता रहेगा, तो मैं समझता हूँ, आनन्द की उपलब्धि भी बराबर होती रहेगी।

प्रश्न हो सकता है, जिस धर्म की साधना करते हुए भी यदि जीवन आनन्द-विहीन बना रहता है, वह धर्म क्या है ? मैं कहता हूँ, धर्म कोई पंथ नहीं है। किसी सम्प्रदाय का छापा, तिलक या और जो रूप-रंग होता है, वह भी धर्म नहीं है। वे साधन होते हैं अवश्य, किन्तु उन क्रियाकाण्डों के पीछे धर्म की सच्ची भावना आनी चाहिए। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह और तप-त्याग आना चाहिए।

वास्तव में धर्म का कोई वाह्य चिन्ह नहीं है। अगर अहिंसा आदि हैं तो जैनधर्म मान लेता है कि धर्म है। और पंथ के क्रियाकाण्ड तो हैं मगर धर्म के पवित्र संस्कार नहीं हैं, तो वह धर्म नहीं है। जैनधर्म कहता है कि यदि अहिंसा और सत्य के ऊँचे संस्कार हैं, क्रियाकाण्ड भी साधना के रूप में किया जा रहा है तो वहाँ सोने में सुगन्ध है। वहीं धर्म का असली रूप पनपता है।

जिस मनुष्य का मन धर्म में रहता है–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, तप, त्याग और वैराग्य में रमण करता रहता है, उसे क्या कमी है ? उसे क्या दुःख है ? वह निराश और हताश क्यों हो ?

संसार के वैभव मिल रहे हैं या नहीं, संसार की निगाह में उठ रहा है या नहीं, तू यह क्यों देखता है ? साधक ! तू तो यही देख कि तू अपने जीवन में उठ रहा है या नहीं ? यदि तू उठ रहा है तो देवता भी तेरे चरणों में सिर झुकाने को आएँगे और तेरे चरणों की धूल अपने मस्तक पर लगा कर अपने को पवित्र समझेंगे। समझा, तेरी ऊँचाई इतनी बड़ी ऊँचाई है।

दूसरे लोगों ने मानव जीवन को इस रूप में समझा है या नहीं, किन्तु जैनों ने भी कहाँ समझा है ? देखते हैं–धर्म का मर्म एक तरफ उपेक्षित पड़ा है और मनुष्य इधर-उधर की दूसरी कसौटियाँ कल्पित करके उन पर जीवन की ऊँचाइयों की परख करता फिरता है। और जब ऐसा करता है तो जीवन की असली चीज नहीं मिल पाती है, जीवन का दुःख-द्वन्द्व समाप्त नहीं होता है।

आनन्द श्रावक के पास धन बहुत था, फिर भगवान् महावीर से उसे कौन-सा धन मिला ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र के शब्दों में—धर्म धनबुद्धि :

धर्म ही सच्चा धन है। आनन्द को यह नया दृष्टिकोण भगवान् से मिला। संसार का भौतिक धन तो एक दिन मिलता है और मिलकर बिछुड़ भी जाता है, किन्तु जब तक धर्म में धन की बुद्धि पैदा नहीं होती, जीवन में मंगल नहीं होता। जो मनुष्य धर्म को धन समझ सकेगा, वह धर्म की प्रतिष्ठा में ही अपनी प्रतिष्ठा समझेगा। वह अपने अच्छे संस्कारों को ही जीवन की अच्छी से अच्छी कमाई समझेगा। वास्तव में वह कमाई इतनी ऊँची कमाई है कि यहाँ भी मालामाल और आगे भी मालामाल। उसके आगे सोने के सिंहासन भी फीके पड़ जाते हैं। जब मनुष्य में ऐसे विचार जाग जाते हैं तो वह ऊँचाई की ओर बढ़ जाता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन का विश्लेषण करे। देखे कि मैं कहाँ भूल कर रहा हूँ? जीवन की अटपटी पगडंडी पर चलता हुआ अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति पूरा कर रहा हूँ या नहीं? अगर वह अपना कर्त्तव्य ठीक ढंग से अदा कर रहा है तो वहाँ धर्म है। और यदि उसके किसी कार्य में धर्म-बुद्धि नहीं है, फिर भले ही धर्म के नाम पर कितना ही बड़ा क्रियाकाण्ड क्यों न करे वह एक प्रकार की चोरी ही है, धर्म नहीं।

यहाँ अचौर्यव्रत का प्रसंग चल रहा है, धार्मिक जीवन का चिन्तन चल रहा है; किन्तु जैनधर्म ने चोरी के सम्बन्ध में कहाँ तक कितनी भूमिका बाँधी है और मोर्चा बनाया है, जब तक हम इस तथ्य को सही रूप में नहीं समझ लेते हैं, तब तक धर्म करते हुए भी गलतियाँ करते रहेंगे। क्योंकि जब तक दृष्टिकोण को साफ नहीं किया जाता, जीवन में भूलें चलती ही रहती हैं।

अस्तेय की परिभाषा :

एक आदमी को किसी वस्तु की अपेक्षा है, आवश्यकता है। वह उसका योग्य अधिकारी भी है, पात्र भी है। अगर उसे वह वस्तु मिल जाती है तो उसका उपयोग करके वह अपने जीवन को बना सकता है। दूसरा व्यक्ति है, जिसे उस वस्तु की अभी आवश्यकता नहीं है और वह दूसरे ढंग से भी अपना काम चला सकता है। वह उसका पात्र भी नहीं है। आपके पास वह चीज है। किन्तु आपने पहले व्यक्ति को वह नहीं दी और दूसरे को दे दी। यों तो आपने अपनी वस्तु अर्पण की है और लोक-प्रसिद्धि के अनुसार दान दाता बन गए हैं; किन्तु जहाँ जरूरत थी वहाँ नहीं दी और जहाँ जरूरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं थी वहाँ दी है। इस पर जैनधर्म की दृष्टि से विचार करना है कि वास्तव में यह क्या हुआ ? यह लेन-देन और यह व्यवस्था किस रूप में है ?

मैं एक गंभीर बात आपसे कहना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि जैनधर्म की दृष्टि से यह भी एक प्रकार की चोरी है। आप जरा चिंतन की गहराई में उतर कर विचार कीजिए कि यदि एक के अधिकार की वस्तु दूसरे को दे दी जाय तो वह अधिकार की चोरी हुई या नहीं ? अधिकार को छीनना हुआ या नहीं ?

एक व्यक्ति किसी पद का अधिकारी है, वह उसके योग्य भी है, अतः उसे वह पद मिलना ही चाहिए, किन्तु वह पद उसे न देकर यदि किसी दूसरे व्यक्ति को, जो उसका अधिकारी नहीं और उसके योग्य भी नहीं, दे दिया जाय तो शासक-वर्ग का यह कार्य क्या समझा जायगा ? अधिकारी व्यक्ति सोचता है कि मेरे अधिकार को छीना गया है। और वास्तव में योग्य अधिकारी के अधिकार को छीन लेना चोरी ही का तो काम है।

साधुओं के लिए भी इसी प्रकार का एक वर्णन आया है। गृहस्थ के घर किसी बीमार के लिए पथ्य की कोई चीज बनी है। बीमार को उसकी बहुत ही आवश्यकता है। साधु उस गृहस्थ के घर जाता है और बीमार का ख्याल न करके, परिस्थिति का उचित विचार न करके, उस चीज को ले आता है, तो हमारी पुरानी और आध्यात्मिक भाषा, बड़े ही गंभीर और कठोर शब्दों में चुनौती देती है, और कहती है कि वह साधु चोरी करके लाया है। हाँ, यह दूसरी बात है कि साधु को वास्तविक स्थिति का पता न लगे और अनजान में वह वस्तु ले ली जाय ; लेकिन जान-बूझ कर, बालक, बूढ़े या रोगी की परवाह न रख कर यदि साधु ले आता है तो हमारे यहाँ वह चोरी मानी जाती है। एक के अधिकार की वस्तु उसे न लेने देकर खुद ले ली है तो यह अधिकार की चोरी ही है।

मान लीजिए, आपके पास एक पुस्तक है, बहुत सुन्दर और उपयोगी ! आप उसका दान करना चाहते हैं। आपके सामने एक उसके पढ़ने का अधिकारी है, विद्यार्थी या और कोई जिज्ञासु है, और वह उसे पढ़ कर अपना जीवन बना सकता है और लाभ उठा सकता है ; किन्तु आप उसे न देकर किसी ऐसे मनुष्य को दे देते हैं, जो पढ़ा-लिखा नहीं है और उस पुस्तक की गंभीरता को समझ नहीं सकता है और जो उसे लेकर उसका दुरुपयोग करेगा, तो हम उस पुस्तक के दान को सही ज्ञानदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं समझते। एक अबोध बालक पुस्तक की सुन्दरता से आकर्षित होकर उसे लेना चाहता है और आपको मालूम है कि एक खिलौने से अधिक उसके लिए उस पुस्तक का कोई उपयोग और मूल्य नहीं है ; और दूसरा उसे पढ़ने के लिए, उससे लाभ उठाने के लिए लेना चाहता है, किन्तु आप उसे न देकर अबोध बालक को ही वह पुस्तक दे देते हैं तो क्या वास्तव में आप ज्ञानदान कर रहे हैं ?

केवल दे देना ही दान नहीं है। कम से कम जैनधर्म में दे देना मात्र ही प्रशस्त दान नहीं माना गया है। हजारों वर्षों से चला आने वाला हमारा जो साहित्य है, उससे मालूम होता है कि देने के पीछे विवेक और सद्‌बुद्धि भी आवश्यक है। देते समय इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि वह किसे मिल रहा है और वह उसका क्या उपयोग करेगा ?

इस दृष्टि से उस पुस्तक का सच्चा अधिकारी वह विद्यार्थी या जिज्ञासु था, जो पढ़ रहा है। वह उसे पढ़ता और उससे आदर्श ग्रहण करता। पर उसे न देकर आप एकमात्र खिलौना समझने वाले अबोध बालक को दे देते हैं। वह उसका सदुपयोग नहीं कर सकता। अतः यह आपका दान नहीं है किन्तु चोरी है।

आप कहेंगे, यह चोरी कैसे है ? हमने तो उलटी अपनी वस्तु दी है, फिर चोरी कैसी ? मगर कभी-कभी ऐसा ही उलटफेर हो जाया करता है। आप घर की चीज देते हैं और ममता उतारते हैं, फिर भी यह चोरी ही हो जाती है। क्योंकि किसी के अधिकार का अपहरण करना क्या चोरी नहीं है ?

इस प्रकार के दान देने को 'चोरी' शब्द से कहना-सुनना आपको अटपटा लगता है। यदि 'चोरी' के बदले 'गुनाह' शब्द का प्रयोग किया जाय तो आप ठीक समझ सकते हैं और अपनी भूल को स्वीकार करने के लिए भी तैयार हो सकते हैं। उसे चोरी कहते हैं तो आप गड़बड़ में पड़ जाते हैं। अच्छा, तो आप एक का अधिकार दूसरे को दे देना गुनाह ही समझ लीजिए। पर साथ ही वह विचार भी तो कीजिए कि इस गुनाह को आप किसी पाप में शामिल करते हैं या नहीं ? अगर शामिल करते हैं तो किस पाप में ? मैंने तो इसे चोरी में शामिल किया है। क्योंकि एक के अधिकार की वस्तु उससे छीनी गई है और दूसरे को दे दी गई है। अधिकार छीनना, आध्यात्मिक भाषा में चोरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु परिव्राजक हैं, एक जगह से दूसरी जगह आते-जाते रहते हैं। आपके ब्यावर जैसे क्षेत्र में आने पर तो उन्हें आवश्यकता के अनुसार आहार मिल सकता है, मगर सभी जगह ऐसे क्षेत्र नहीं हैं। देशाटन करते समय, कभी-कभी ऐसे क्षेत्रों में भी जाना पड़ता है, जहाँ उन्हें आवश्यकता से बहुत ही कम आहार मिलता है। जब इस तरह कम आहार मिलता है और वह सब साधुओं के लिए पर्याप्त नहीं होता तो विचार कीजिए कैसे उसका बंटवारा करें ? शास्त्रों में मर्यादा बतलाई है कि सबसे पहले जो अशक्त है, बीमार है, चल नहीं सकता है, उसे दीजिए। फिर जो बच रहे तो इसमें से बालक तथा वृद्ध साधु को दीजिए। उस से भी बच रहे तो जो ज्ञानी हैं, लोगों को प्रबोध देने वाले हैं, उन्हें दे देना चाहिए। और फिर जो बच रहे तो वह उन साधुओं को मिलना चाहिए, जो सशक्त हैं और भूख को बर्दाश्त कर सकते हैं। इस रूप में आहार को वितरण करने का विधान है। इस व्यवस्था में उलट-फेर कर दिया जाय और 'मैं बड़ा हूँ, अतएव मेरा अधिकार पहले है' ऐसा विचार कर कोई साधु खाने बैठ जाय और तपस्वी, म्लान, बालक या बूढ़े आदि का ध्यान न रक्खे तो उसका ऐसा करना चोरी है, क्योंकि उसने उनके अधिकार का अपहरण किया है।

प्रश्न हो सकता है—इसमें चोरी क्या है ? साधु गृहस्थ का दिया हुआ लाये हैं, छीन कर तो नहीं लाये हैं ; फिर इसे चोरी कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि गृहस्थ के घर से दिया हुआ लाये हैं, अतः वह गृहस्थ की चोरी नहीं है ; किन्तु साधुसंघ में से ही जिसके अधिकार की वस्तु का उपयोग किया है, उसकी चोरी है। बँटवारा करते समय वह चोरी की गई है।

शास्त्रकारों का साधु-जीवन के लिए यह सुन्दर विश्लेषण है। इसे मैं आपके जीवन में भी घटाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

अस्तेय और दान :

हाँ, तो आपको दान की कला समझना है। दान के गंभीर भाव को ध्यान में रखना है। ऐसा करने पर ही आपका जीवन ऊँचाई पर पहुँच सकता है। आप दान दें और अवश्य दें, मगर जब भी दें, विचारपूर्वक दें—योग्य अधिकारी का ध्यान रख कर दें।

आज भी दान दिया जाता है। जैन भी देते हैं और अजैन भी देते हैं। उस दान की बदौलत बहुत बड़ा काम हो रहा है। अतएव दान के प्रति जनता में जो सद्भावना है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम उसका आदर करते हैं। परन्तु उस दान की हम उचित व्यवस्था चाहते हैं। उस पर आपको भी विचार करना है।

कल्पना कीजिए, आपके नगर में एक संस्था है और उसके उद्देश्य तथा कार्य से आप सन्तुष्ट हैं, मगर अर्थाभाव के कारण वह अशक्त है। उसके पास सुचारू रूप से कार्य करने को पर्याप्त द्रव्य नहीं है। दूसरी संस्था कहीं बाहर है, किन्तु वह यथेष्ट कार्य नहीं कर रही है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के उसके रिकार्ड्स धन इकट्ठा करने के ही रहे हैं, काम करने के नहीं।

यह दोनों संस्थाएँ आपके सामने हैं। आप जानते हैं कि अपने नगर की संस्था को दान देने से नामवरी नहीं होगी, या होगी भी तो कम होगी, और बाहर की संस्था को दान देने से अधिक नाम होगा, अधिक प्रतिष्ठा मिलेगी। इस प्रलोभन में पड़ कर आप ठोस और सन्तोषजनक कार्य करने वाली स्थानीय संस्था को तो दान नहीं देते और दिखावा करने वाली बाहर की संस्था को, प्रतिष्ठा पाने के लोभ से दान देते हैं। गाँव की संस्था भूखी मर रही है, धनाभाव के कारण उसके महत्त्वपूर्ण काम रूके हुए हैं, और दूसरी तरफ बाहर यश-लोलुपता से प्रेरित होकर हजारों का दान दे रहे हैं। मैं समझता हूँ कि यह दान-सम्बन्धी अव्यवस्था है, अज्ञानता है, अविवेक है, और है—स्पष्टतः योग्य संस्था के अधिकार का अपहरण।

जो दान सीधा जनता के जीवन में प्रवेश करता है, जिससे जनता का उपकार और मंगल होता है, उससे विमुख रहना, जन-जीवन के लिए उपयोगी कार्य करने वाली संस्था को दान न देना; और जिस संस्था के पास पर्याप्त धन है और जिसके अधिकारी उस धन पर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, वहाँ दान देना, एक प्रकार का अपहरण नहीं तो क्या है? जो अधिकारी है उसे न देना, और उसके बदले जो अधिकारी नहीं है उसे दे देना; इसे चोरी के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?

हमारे यहाँ पहले आचार्य को वन्दन किया जाता है और फिर दूसरे साधुओं को। इस क्रम को भंग करके यदि कोई आचार्य को छोड़ कर पहले दूसरे साधुओं को वन्दन करता है तो वह आचार्य की चोरी है।

यह जीवन की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। जब हम खुले दिमाग से जीवन के आदर्शों पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि अपने कर्त्तव्य का पालन न करना ही चोरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः जो वास्तव में अधिकार देने के योग्य था, पात्र था, उसे अधिकार न देकर दूसरे अपात्र को अधिकार देना, अपने कर्त्तव्य से च्युत होना है और ऐसा करना चोरी है।

एक छोटी-सी बात पर विचार कीजिए। आप देखते हैं कि आज देश की स्थिति कितनी भयंकर है ? एक-एक अन्न का दाना सोने के दाने से भी कहीं अधिक महँगा हो गया है। चारों ओर से भुखमरी की खबरें आ रही हैं। पैनी आँखों से देखते हैं तो मालूम पड़ता है कि देश एक भीषण दुष्काल के किनारे खड़ा है। प्रायः सर्वत्र अन्न के लिए हाहाकार मचा हुआ है। देश के जो बालक, बूढ़े और नौजवान हैं, वे अन्न के अभाव में तड़फ रहे हैं। वे शरीर से ही नहीं मर रहे हैं, किन्तु अपनी आत्मा की दृष्टि से भी मर रहे हैं। वे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से मर रहे हैं, अपनी संस्कृति से मर रहे हैं। देश के आदमी भूख से तिलमिलाते हुए मरते हैं, उच्च वर्ग के धनी लोगों की लोलुपता या उपेक्षा के कारण मरते हैं, तो मैं समझता हूँ, यह राष्ट्र के लिए बड़ा भारी कलंक है।

यदि कोई आदमी केवल एक दिन भी लाचारी से भूखा रहता है, तो यह बात भी राष्ट्र के लिए कलंक है। फिर भला जहाँ हजारों और लाखों की यह हालत हो वहाँ तो कहना ही क्या है ? उस राष्ट्र के लिए 'कलंक' से बढ़कर कोई दूसरा ही अपवित्र शब्द खोजना चाहिए।

इसी तरह एक आदमी को नंगा रहना पड़ता है, फुट-पाथ पर सोना पड़ता है, कड़ाके की सर्दी पड़ रही है और वह कपड़े के अभाव में ठिठुर रहा है, तो यह भी देश के लिए बड़ा भारी कलंक है।

हाँ, तो आज समाज के सामने यह महान् प्रश्न खड़ा है और उत्तर मांगता है कि उसे क्या करना चाहिए ? एक तरफ तो यह दुर्दशा है और दूसरी तरफ हजारों मन अनाज धर्म के नाम पर चुगाया जा रहा है, उन पक्षियों को, जो स्वतन्त्र विचरण करने वाले हैं, जो अपने जीवन को कहीं पर भी और किसी भी रूप में चला सकते हैं, जिनकी उड़ान बहुत दूर तक है, और जो जंगल की सामग्री से भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं।

इस प्रसंग पर हमें अपने अन्तर विवेक से आदेश प्राप्त करना चाहिए। मैं यह नहीं कहता है कि पक्षियों को अन्न न चुगाएँ, मैं यह भी नहीं कहता कि ऐसा करने में असंयमी का पोषण होने के कारण एकान्त पाप है, मेरा यह भी कहना नहीं है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पशु-पक्षी मनुष्य की करुणा और दया के पात्र नहीं हैं, बल्कि मैं यह कहना चाहता हूँ कि ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को अपना विवेक नहीं बिसारना है। इधर हजारों मन अनाज कबूतरों और चिड़ियों को डाला जा रहा है और समझा जा रहा है कि हम बड़ा भारी धर्म कर रहे हैं। और दूसरी तरफ देश के हजारों लाखों आदमी भूख के कारण मौत के मुँह में हैं। मैं पूछता हूँ कि यह मानवीय अधिकारों का अपहरण है अथवा नहीं? आप मानें या न मानें यह मानव जाति के अधिकार का अपहरण है, अतः एक प्रकार की चोरी ही है।

अस्तेय और दया :

जो इन्सान अनाज पर ही पलता है, उसे वह न देकर घास-पात खाने वालों को खिलाना, अधिकार का अपहरण करना नहीं तो क्या है ?

बन्दरों को अनाप-सनाप अनाज डाला जाता है या नहीं ? सम्भव है, बन्दर ने अपने जीवन में, जन्म से लगा कर अब तक मीठा न चखा हो, फिर भी मंगलवार आएगा तो गुड़ का चूरमा उन्हें अवश्य खिलाया जाएगा। यह क्या बात है ?

हम एक जगह ठहरे हुए थे। वहाँ देखा एक व्यक्ति धर्म की साधना कर रहा था। देश में अकाल का प्रकोप था, तब वह बंदरों को गुड़ का चूरमा खिला रहा था। बन्दर उपद्रव मचा रहे थे और जाते नहीं थे। आसपास खड़े बालक बन्दरों को मारने लगे तो वह भक्तराज उन्हें समझाने लगा कि 'ये बन्दर नहीं हैं, हनुमान जी हैं, रामजी के सेवक हैं। मगर जब बन्दरों का उपद्रव शान्त नहीं हुआ और वे उसकी चीजें उठा ले गए तो उन्हें भगवान्, देवता एवं हनुमान समझने वाला परेशान हो गया और लाठी उठा कर उन्हें मारने दौड़ा, बुरी-बुरी गालियाँ बकने लगा।

यह घटना देखकर मैंने सोचा—अभी तक तो यह व्यक्ति इन बन्दरों को हनुमान समझ रहा था और अब खुद ही उन हनुमानों को मारने दौड़ रहा है। कितना बड़ा अंध विश्वास और अज्ञान है जीवन में ! यह भक्ति नहीं, अन्ध भक्ति है, अज्ञानभक्ति है। यह लोक-मूढ़ता है। इसमें विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है।

साधारण स्थिति में पशुओं, पक्षियों, बन्दरों और मछलियों आदि के प्रति इस प्रकार की करुणा से प्रेरित दान प्रशंसनीय है। सिद्धान्ततः इसका विरोध नहीं किया जा सकता। एक युग था, जब देश में सहज प्रकृति से ही विशाल परिमाण में अन्न का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पादन होता था और जनता द्वारा यथेष्ट रूप से उपयोग कर लिए जाने पर भी प्रचुरमात्रा में बाकी बच रहता था, तो अपनी दान की भावना को चरितार्थ करने के लिए लोग कबूतरों को, चींटियों को और मछलियों को खिला दिया करते थे ! और इस प्रकार हजारों-लाखों मन अनाज उन्हें डाल दिया जाता था। उस समय यह प्रणाली प्रशंसनीय ही कही जा सकती थी।

किन्तु आज के मनुष्य को देश की वर्तमान परिस्थिति ध्यान में रखनी चाहिए। जब हमारे देश के इन्सान एक मुट्ठी अन्न के अभाव में मर रहे हों, तब चींटियों के लिए हजारों मन आटा मैदान में बिखेर देना, विवेकशीलता नहीं है। आप आटा डाल कर कुछ दूर गये—और दूर बैठा हुआ कुत्ता वहाँ आया और उस मीठे आटे को चाटने लगा—तो, वे बेचारी चींटियाँ, जो उस आटे को खा रही थीं, कुत्ते के पेट में आटे के साथ ही चली गईं। तो, इस प्रकार दान करने से तो पुण्य के स्थान पर और पाप हुआ। अस्तु, यह दान का ढंग अज्ञानपूर्ण है।

मेरे इस कथन का आशय अन्तराय डालने का नहीं है। मैं तो, क्रम को समझाना चाहता हूँ। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आहार जब थोड़ा होता है तो साधुओं में भी क्रमपूर्वक वितरण करने का नियम है। घर में भी क्रम से ही देने की परम्परा है।

इस क्रम को भुला देने से अनेक अनर्थ होते हैं। जो प्रकृति पर आधारित रहकर अपने जीवन को आनन्दपूर्वक बिता सकते हैं और आपके अन्न के भरोसे जीवित नहीं हैं, जिनकी प्रकृति भी मूलतः अन्न खाने की नहीं है, उनको तो प्रचुर अन्न खिलाया जाता है और अन्न जिनका प्राण है, जिनके लिए 'अन्नं वै प्राणाः' कहा गया है और इस प्रकार जो अन्न के बिना जीवित नहीं रह सकते वे अन्नाभाव से भूखे मर रहे हैं। आपके अज्ञानपूर्ण दान के कारण अधिकारी नहीं, किन्तु अनधिकारी प्रचुर मात्रा में अन्न प्राप्त कर रहे हैं।

बिहार आपसे दूर नहीं है। आसाम और बंगाल भी दूर नहीं, वहाँ के निवासी भी आपके भाई हैं, वे जब अन्न के अभाव में अपने शिशुओं को, अपनी बहू बेटियों को बेच देते हैं तो कितने घोर पाप की सृष्टि होती है। इस स्थिति में हमारे यहाँ दान की जो परम्परा चल रही है, उससे मानवीय अधिकारों का अपहरण होता है, और जहाँ यह अपहरण है, वहाँ चोरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं समझता हूँ, कोई भी विवेक-शील व्यक्ति मेरे इस कथन से असहमत नहीं हो सकता—अगर मैं कहूँ कि देश जब तक पाँच-दस वर्ष के लिए अन्न की समुचित व्यवस्था न कर ले, तब तक मछलियों को और बन्दरों को अनाज देना, इन्सान को भूखा मारना है। इन्सान के अधिकारों को छीनना है।

एक बात और स्पष्ट कर दूँ। कोई यह न समझे ले कि मनुष्य का केवल मनुष्य के साथ ही रिश्ता है और मनुष्येत्तर प्राणियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं ऐसा नहीं समझता। मनुष्य प्राणीजगत् में सब से अधिक विकसित और सामर्थ्य-सम्पन्न प्राणी है, अतएव वह बड़े भाई के समान है और दूसरे प्राणी इसके छोटे भाई के सदृश हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उनके प्रति भी सहानुभूति, दया और प्रेम की धारा बहाए। अपनी मैत्री भावना को, जो साधारणतया अपने परिवार तक सीमित रहती है, क्रमशः विकसित करता हुआ प्रत्येक मानव के पास ले जाय और फिर शनैः शनैः अन्य चर और अचर प्राणियों के पास भी। यही मैत्री-भावना के विकास का स्वाभाविक क्रम है। जहाँ इस क्रम का व्यक्तिक्रम होता है—वहाँ अस्वाभाविकता है, बनावट है, अव्यवस्था है। मैं समझता हूँ, वहाँ भगवदाज्ञा की चोरी भी है।

इस चोरी से बचना भी विवेकशीलों का कर्त्तव्य है।

व्यावर, अजमेर
२.११.५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५ अस्तेय का विराट रूप

चोरी का मतलब आम तौर पर समझा जाता है—किसी की चीज उसकी अनुमति के बिना उठा लेना, छीन लेना, अपने कब्जे में कर लेना और डाका डाल कर या बलात् ले लेना। ताला तोड़ लेना, जेब काट लेना, आदि-आदि बातें चोरी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इसी प्रकार जो दूसरों के अधिकार की वस्तुएँ हैं, दूसरों के काम में आने वाली चीजें हैं, उन्हें धोखा देकर ले लेना, या फुसला कर ले लेना भी चोरी में ही शुमार किया जाता है। जहाँ तक चोरी शब्द के अर्थ को मोटे रूप में समझ लेने की बात है, इन सब बातों को चोरी समझ लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु चोरी के और भी अंग हैं और वे इतने सूक्ष्म हैं कि उनके विषय में हमें गहराई से सोचना है और जब गहराई से सोचेंगे, तभी हम भली प्रकार से उन्हें समझ सकेंगे।

विचार कीजिए, किसी आदमी के पास सम्पत्ति है। वह सम्पत्ति आखिर समाज में से ही तो ली गई है। वह आकाश से नहीं बरसी है और न पूर्वजन्म की गठरी ही बाँध कर साथ में लाई गई है। मनुष्य तो केवल यह शरीर ही लेकर आया है। बाकी सब चीजें तो उसने यहीं प्राप्त की हैं। और प्राप्त तो कर लीं है, किन्तु उनका यदि उपयोग नहीं करता है, ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर रहा है, उन्हें दबाए बैठा है, न अपने लिए, न दूसरों के लिए ही काम में लाता है। भूखा रहा, प्यासा रहा, आर्त्तध्यान में रहा और रौद्रध्यान में रहा, किन्तु उस सम्पत्ति का उपयोग नहीं किया। सर्दी आई, गर्मी आई, बरसात आई और वह दूसरों के मकान में या इधर-उधर बिलकुल रद्दी ढंग से रहा, किन्तु उसने अपने मकान को ठीक नहीं करवाया। प्रश्न होता है—यह भी चोरी है या नहीं ?

वह, जो सारी सामग्री होने पर भी सर्दी, गर्मी या बरसात से बचने के लिए मकान के रूप में अपनी सम्पत्ति का उपयोग नहीं करता, और जब उपयोग नहीं करता तो उनके अन्तःकरण में आर्त्त-रौद्र ध्यान आते हैं, मन अशान्त रहता है। यदि पूर्ति करले तो मन शान्त हो जाय, किन्तु वह पूर्ति नहीं करता है और अशान्ति में कर्म बांधता जाता है। फिर भी सारी लक्ष्मी को दबाए बैठा है !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो कहने को तो यह चोरी नहीं है और समाज भी इसे चोरी समझने को तैयार नहीं है, किन्तु दर्शन की दृष्टि से यह भी चोरी है। समाज से धन इकट्ठा किया और डाले रक्खा, सारी जिन्दगी समाप्त हो गई—न अपने लिए और न दूसरों के लिए ही उसका उपयोग किया तो, यह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

जो व्यक्ति सम्पत्ति पा करके भी उसे प्राणों से लगाए रहता है और आर्त्तरौद्र ध्यान में शरीर गलाता रहता है; अपनी आध्यात्मिक चेतना को बराबर नष्ट करता रहता है, बूढ़े माँ बाप की सेवा के भाव भी नहीं रखता है, पत्नी तथा सन्तति की उन्नति की बात भी नहीं सोचता है और अपनी जिन्दगी में ठीक ढंग की तैयारी भी नहीं करता है, इन सब प्रयोजनों के लिए धन का उपयोग न करके उसे दबाए बैठा रहता है, तो मैं नहीं समझ पाता कि वह व्यक्ति चोरी नहीं करता तो और क्या करता है।

यह तर्क का प्रश्न है और विचार की बात है। मैं पहले अपने ऊपर ही घटाता हूँ, मान लीजिए, एक व्यक्ति साधु बन गया है, किन्तु साधु का जो कर्त्तव्य है और उत्तरदायित्व है, उसे पूर्ण नहीं कर रहा है तो वह चोर है या साहूकार है ?

यहाँ तो आप चटपट कह देंगे कि वह चोर है। यहाँ आपकी तर्क बुद्धि काम कर जाती है और मैं समझता हूँ कि ठीक काम कर रही है। क्योंकि उसने संसार छोड़ा है, साधु बनने की प्रतिज्ञा की है, जीवन क्षेत्र में खड़ा हो गया है और आपसे यश-प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, आहार पानी लेता है और जीवन की अनिवार्य सामग्री लेता है; फिर भी अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है और साधुपद की मर्यादा का अनुसरण नहीं करता है, तो वह भगवान का चोर है।

तस्कर की परिभाषा:

इसी प्रकार जिसने गुरू से बाना लिया है और गुरू के आदेशों का पालन करने की प्रतिज्ञा ली है, वह यदि गुरू के बताए हुए मार्ग पर नहीं चल रहा है, तो वह गुरू का चोर है।

जो अपने आपको, समाज में साधु के रूप में प्रकट करता है, साधु की हैसियत से समाज की सहायता और सहयोग प्राप्त करता है, फिर भी अपने साधुजीवन के कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है तो वह निश्चय ही समाज का चोर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सब से बढ़कर वह अपनी आत्मा का चोर है। वह आत्मवंचना करता है, अपने आपको धोखा दे रहा है।

यह बात आप जल्दी और बिना किसी संकोच के समझ गये हैं, मान गये हैं। मगर यही बात आपको अपने सम्बन्ध में भी समझनी और माननी चाहिए।

आप अपने लिए 'कृपण' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। अर्थात् कह सकते हैं कि अपने धन का अपने या दूसरे के लिए उपयोग न करने वाला और इस रूप में अपने परिवार और समाज के प्रति कर्त्तव्य से विमुख रहने वाला व्यक्ति 'चोर' नहीं, कृपण है। तो इस तरह तो मैं साधु के लिए कोई शब्द गढ़ सकता हूँ और कह सकता हूँ कि अपने कर्त्तव्य का पालन न करने वाला वह साधु कृपण है या दुर्बल है, ढीला है।

न्याय की तुला किसी का लिहाज नहीं करती। अतएव अपने कर्त्तव्य का पालन न करने वाले साधु को आप जिस शब्द से सम्बोधित करने को तैयार हैं, उसी शब्द से अपने कर्त्तव्य से विमुख रहने वाले गृहस्थ को भी सम्बोधित करनें में क्यों संकोच करते हैं ? मतलब यह है कि जैसे अपने उत्तरदायित्व को न निभाने वाला साधु चोर है, उसी प्रकार वैसा श्रावक भी चोर है।

जो व्यक्ति श्रावक के रूप में हमारे सामने आ गया है, किन्तु कर्त्तव्य का पालन करने के लिए तैयार नहीं है और जिस समय जो कार्य करना चाहिए, उसे नहीं करता है, सशक्त होते हुए भी कर्त्तव्य से जी चुराता है, फिर भी वह यदि श्रावक होने का दावा करता है, तो बताइए उसे क्या कहना चाहिए ? वह साहूकार कहलाने योग्य है या चोर कहलाने योग्य ? जो जिस पद को लेकर खड़ा है, उस पद के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य को यदि नहीं निभाता तो वह चोर है या साहूकार है ?

एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठ गया। छत्र-चँवर धारण कर लिये और महलों में रहने लगा। जहाँ भी जाता है हजारों आदमी 'घणी खमा' करते हैं। प्रजा से आदर-सत्कार और यश-प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है और आनन्द ले रहा है। इस स्थिति में उसका भी प्रजा के प्रति प्रेम होना चाहिए। उसमें प्रजा के कल्याण की भावना होनी चाहिए। उसे प्रयास करना चाहिए कि मेरी प्रजा दीन और दरिद्र न रहे, बल्कि समर्थ और समृद्ध बने। दुराचारी न बने, बल्कि सदाचार के सौरभ से सम्पन्न हो। उसे प्रजा के कल्याण के लिए अपने सुख का बलिदान करना चाहिए। स्वयं दुःख झेल कर प्रजा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह उसका कर्त्तव्य है, उत्तरदायित्व है। अगर राजा इसे भली भाँति निभाता है तो वह साहूकार है ; अगर नहीं निभाता तो वह चोर के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

यहाँ पर राजा के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है, वही राज्याधिकारी के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

इसी तरह आपने एक मजदूर रक्खा। आप उससे काम लेते हैं, किन्तु वह काम करते-करते निगाह चुराकर बातें करने लगता है अथवा यह सोच कर कि जिस वेग से मैं काम कर रहा हूँ, इस तरह तो यह काम शीघ्र ही समाप्त हो जायगा, बस वह हाथ पैर हिलाता हुआ तो दिखाई देता है, किन्तु काम धीरे-धीरे करता है। तो जो मजदूर जानबूझ कर, बेईमानी से, काम में ढिलाई कर रहा है, उसे चोर कहते हैं या साहूकार? वह काम का चोर है, अर्थात् अपने कर्त्तव्य का चोर है।

घर में कोई बहिन सशक्त और स्वस्थ है ; फिर भी समय पर रोटी पानी का काम नहीं करती, बच्चों की सफाई का काम नहीं करती, ठीक समय पर झाड़ू-बुहारी का काम नहीं करती, बीमार की सेवा-शुश्रूषा का काम नहीं करती, बूढ़ों को समय पर भोजन बना कर नहीं खिलाती और पड़ी-पड़ी आलस्य में समय निकाल देती है, तो जैसे नौकर अपने कर्त्तव्य का चोर है, उसी प्रकार वह बहन भी अपने कर्त्तव्य का पालन न करने के कारण चोर है।

इसी प्रकार कोई विद्यार्थी घर से बाहर किसी दूसरे नगर में पढ़ने गया है। घर वाले समझते हैं कि वह पढ़ रहा है। वह घर से ५०-६०-१०० रुपये प्रति-मास मँगा लेता है। मगर वह पढ़ता नहीं है और मटरगश्ती में रहता है, सिनेमा देख आता है, दोस्तों के साथ होटलों में सैर कर आता है ! परीक्षा पास में आ गई है, पुस्तकों का ढेर है, फिर भी पढ़ने में जी नहीं लगाता ! ऐसे विद्यार्थी को भी चोर कहा जाता है, साहूकार नहीं कहा जा सकता।

विद्यार्थी को पढ़ने का काम मिला है, अपने आपको ऊँचा बनाना उसका कर्त्तव्य है। वह स्वयं प्रकाश प्राप्त करले तो अंधकार में भटकने वाले दूसरों को भी रोशनी दे सके। उसके सामने यह आदर्श है कि मैं अच्छा नागरिक बनूँगा और दूसरों को भी अच्छा नागरिक बनाऊँगा। मैं जो प्रकाश प्राप्त कर रहा हूँ, वही प्रकाश अपने समाज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और देश को भी दूँगा। मैं अपने व्यक्तित्व को समृद्ध बनाकर मानव जाति के हित में उसे लगा दूँगा। इतना महान् आदर्श है विद्यार्थियों के सामने। मगर वह काम नहीं करता है। अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता है, तो उसके लिए भी आप वही कहेंगे कि वह कर्त्तव्य का चोर है।

एक आदमी स्वस्थ और शरीर से हृष्ट-पुष्ट है। उसमें इतनी ताकत है कि समय आने पर सेवा में जुट जाय और रात-दिन निकाल दे तो भी उसका कुछ भी न बिगड़े, शरीर पर बुरा प्रभाव न पड़े; फिर भी यदि वह सेवा नहीं करता और सेवा का अवसर आने पर बहाने-बाजी करके टालमटूल कर जाता है तो वह शक्ति का चोर माना जाता है।

अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति ने जो उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य अपने ऊपर ओढ़ा है, जिस जिम्मेवारी को अंगीकार किया है, उससे विमुख होना, उसे शक्ति भर पूरा न करना और फिर भी उसके परित्याग की प्रामाणिक घोषणा न करना, कर्त्तव्य की चोरी है। राजा हो या मजदूर, साधु हो या श्रावक, शिक्षक हो या शिष्य, स्वामी हो या सेवक, स्त्री हो या पुरुष, कोई भी क्यों न हो, जब तक वह अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, तब तक वह साहूकार है और जब कर्त्तव्य के प्रति लापरवाही दिखलाता है तो चोर की श्रेणी में आ जाता है।

आचार्य जिनदास :

आचार्य जिनदास महत्तर हमारे यहाँ, जैनों में एक बड़े दार्शनिक हो गए हैं। उनका साहित्य पढ़ने योग्य है। जब उनके ग्रन्थों का अध्ययन होता है और उन पर विचार एवं चिन्तन किया जाता है तो उन ग्रन्थों में कदम-कदम पर एक से एक अनमोल बोल लिपिबद्ध हुये दृष्टिगोचर होते हैं। वे महान आचार्य हमारे जीवन के लिए अमृत की वर्षा कर गये हैं। उन्होंने एक सुन्दर उल्लेख किया है, जो इस प्रसंग में उपयोगी है। वे कहते हैं—कोई साधु गोचरी का काम कर रहा है, अध्ययन या उपदेश देने का काम कर रहा है, या कुछ दूसरा काम कर रहा है और वह सशक्त तथा समर्थ भी है और इस कारण स्वयं ही काम कर सकता है, बतलाया गया है कि उसको स्वयं ही काम करना चाहिए। जब दूसरा कोई आवश्यक काम न हो और समय खाली हो तो अपने हाथों से ही अपना कर्त्तव्य पूरा करना योग्य है। जो काम तुमको मिला है उसको तुम समय पर पूरा कर दो। आचार्य कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संत वीरियं न निगूहितव्वं ।
संते वीरिये न अण्णो आणाइयव्वो ॥

— आवश्यकचूर्णि

जिस काम को करने की शक्ति, सामर्थ्य या बल तुममें मौजूद है, उसे छिपाओ मत। उस शक्ति को कौने में मत डालो। अगर शक्ति को छिपा लोगे तो, कहा गया है, यह भी एक प्रकार की चोरी है।

इसी प्रकार जो काम तुम स्वयं कर सकते हो, उसको करने के लिए दूसरों को आदेश मत दो। ऐसा करना अपने वीर्य का तिरस्कार करना है, अपनी शक्ति का अपमान करना है और अपने कर्त्तव्य की चोरी करना है।

जैनधर्म जैसा ऊँचा और विराट धर्म जीवन के समग्र सत्य को सामने लेकर आया है। उसने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की मंगलसाधना के लिए जो बहुमूल्य सूत्र प्रदान किये हैं, उनमें दर्शन की समस्त धाराओं का समावेश हो जाता है। गांधीवाद और सर्वोदयवाद की आधुनिकतम विचारधाराएँ भी उसमें सम्मिलित हैं। हजारों वर्षों के पहले ही हमारे आचार्यों की वाणी को, जब हम आज पढ़ते और सुनते हैं, तो कभी-कभी ऐसा जान पड़ने लगता है, मानो इस युग की गुत्थियों को आज से हजारों वर्ष पहले सुलझा कर रख दिया गया है। उनकी वाणी में जीवन के महान और उच्च सभी आदर्श प्रतिबिम्बित होते हैं।

आचार्य जिनदास ने कितने सुन्दर और सादे ढंग से कहा है—तू अपनी शक्ति को मत छिपा और जब तेरे शरीर में काम करने की शक्ति है तो दूसरे पर हुक्म मत चला।

जैसे किसी साधु ने उपवास कर लिया है और दूसरे साधुओं ने नहीं किया है। उनके लिए आहार लाना आवश्यक है, तो उपवासी साधु शक्ति रहते ऐसा न कहे—'आज आहार तुम ले आओ, मैं उपवास में हूँ।'

इस प्रकार जब तक तुम्हारी शक्ति काम दे रही है, दूसरे से काम करने को मत कहो। हां, शक्ति न हो तो कह सकते हो। शक्ति और जवाबदारी रहते काम न करना चोरी है। हाँ, अशक्ति की अवस्था में आज्ञा देना साहूकार का काम है।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने इस विषय का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हमारे सामने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्खा है कि उसके अन्तर्गत आने से कोई भी भाव छूट नहीं पाया है। तो अब इस प्रकाश में आप संपत्ति के सम्बन्ध में विचार कीजिए। किसी के पास धन-सम्पत्ति है। वह देख रहा है कि झोंपड़ियाँ जल रही हैं, झोंपड़ियों के कलेजे जल रहे हैं, बालक, बूढ़े और महिलाएँ भूख की कराल ज्वाला में भस्म हो रही हैं, फिर भी उसका पाषाण-हृदय द्रवित नहीं होता। वह अपनी उस शक्ति को कलेजे से लगाए बैठा है। यही नहीं, बल्कि इस भीषण परिस्थिति से लाभ उठा कर अपने धन की वृद्धि के प्रयास में लगा है, तो समाज के सामने आज ज्वलंत प्रश्न उपस्थित है कि उस धनवान को क्या कहा जाय ? उसे चोर न कहें तो क्या कहें ?

धन भी एक शक्ति है, ताकत है और अपने आप में एक बल है। वह उस शक्ति का उपयोग न अपने लिए करता है, न दूसरों के लिए करता है। क्या वह अपनी शक्ति को नहीं छिपा रहा है ? ऐसी स्थिति में उसे चोर क्यों नहीं कहा जा सकता ?

आपको मुँह बोलने के लिए मिला है और आँखें देखने के लिए मिली हैं। एक अंधा चला जा रहा है और उसके आगे एक गड्ढा है उस बेचारे की आंखों में प्रकाश नहीं है। अतः वह गड्ढे को देख नहीं सकता। परन्तु आप खड़े-खड़े देख रहे हैं। मुँह से बोलने की आवश्यकता है और बोलने को मुँह आपके पास मौजूद है, किन्तु आप उस वक्त अपना मुँह नहीं खोलते। अंधे को गड्ढे या कुए की सूचना नहीं देते—तो अंधा तो गड्ढे या कुए में गिरेगा ही ; किन्तु आप उससे भी अधिक हिंसा और निर्दयता के घोर गड्ढे में गिरेंगे। कहा है—

जो तू देखे अंध के, आगे है इक कूप।
तो तेरा चुप बैठना, है निश्चय अघरूप॥

तू देख रहा है कि अंधे के आगे कूप है और वह उसकी ओर चला जा रहा है, तब भी तू चुप बैठा रहता है, बोलता नहीं है और अंधे को उस खतरे से सावधान भी नहीं करता है, तो तेरा मौन रहना पाप है और देखना भी पाप है। यह आँखों की चोरी है कि तू देख रहा है और वह बर्बाद हो रहा है ! यदि उस हालत में भी तू पुरुषार्थ को काम में नहीं लाता है तो अपने ज्ञान और दर्शन की चोरी कर रहा है।

अभिप्रायः यह है कि हमें जो तत्व मिले हैं और जो भी महत्त्वपूर्ण वस्तु मिली है, उसका ठीक-ठीक उपयोग न करना भी शास्त्रों के चिन्तन में चोरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपको मन मिला है ; किन्तु उसके द्वारा यदि आप सुन्दर विचार नहीं करते हैं और दिन रात आपका मन कूड़े-कर्कट का ढेर बनता जाता है, समाज में से सुन्दर विचार को न लेकर आप गंदे विचारों का ही संग्रह करते जाते हैं, तो यह मानसिक पाप और चोरी है।

इसी प्रकार हम बुरे दृश्यों से अपनी आंखों को नहीं हटाते, आंखों का अच्छाई की तरफ उपयोग नहीं करते, दुर्वासनाओं को भड़काने वाली पुस्तकों को पढ़ते हैं और सत्शास्त्रों की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखते तो हम आंखों का दुरुपयोग कर रहे हैं। यह भी एक प्रकार की चोरी है।

यह कान बुरे शब्द और गालियाँ सुन कर मजा लूटने के लिए नहीं है, यह अच्छी और सुन्दर वाणी सुनने के लिए हैं। संसार में अनेक महात्मा पुरुष हो गए हैं और आज भी मौजूद हैं और उनकी दिव्य और कल्याणकारिणी वाणी सभी को सुनने अथवा पढ़ने के लिये मिल जाती है, तो, उस पवित्र वाणी की सहायता से हम अपने जीवन को पवित्र और सात्विक बना सकते हैं। मगर जो ऐसा न करके केवल अपावन रूप को देखने और शब्द को सुनने में ही अपनी आंखों और कानों का उपयोग करता है, वह अपनी देखने और सुनने की शक्ति का चोर है।

इसी प्रकार मनुष्य के हाथ, पैर और दूसरे अंगोपांग, दूसरों को कुछ देने के लिए हैं, न कि दूसरों से कुछ छीनने के लिए। अगर कोई छीनने में उनका इस्तेमाल करता है तो वह चोर हो जाता है।

इन तमाम बातों को एक साथ समेट कर अगर कहा जाय तो यही कहा जा सकता है कि मनुष्य को शरीर, इन्द्रियाँ, धन, वैभव और सोचने-विचारने के लिए मन आदि-आदि जो भी सम्पत्ति मिली है, उसको उसका उपयोग जीवन को ऊँचा, मंगलमय और पवित्र बनाने के लिए ही करना चाहिए। इसके विरुद्ध जो अपनी शक्ति को, सम्पत्ति को या शरीर को अथवा किसी भी अन्य वस्तु को गलत कामों में लगाता है और अच्छे कामों में उनका उपयोग नहीं करता, वह अपने मनुष्यत्व की चोरी करता है। वह अपनी उक्त वस्तुओं का ठीक-ठीक उपयोग न करने के कारण, समाज में ऐसा जीवन लेकर चल रहा है, जिसे हम गंदा या निकम्मा जीवन कहते हैं। जब समाज में इस प्रकार का जीवन-यापन करने वाले लोगों की प्रचुरता हो जाती है, तो वह समाज बर्बाद हो जाता है, और एक दिन रसातल को चला जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पदा का अनुपयोग चोरी :

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि दूसरे की धन सम्पत्ति छीनना या चुरा लेना तो चोरी है ही, किन्तु ठीक समय पर अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग न करना भी चोरी ही है। अतएव जो अपने धन-वैभव का, अपने शरीर और मन का और अपनी इन्द्रियों आदि का उचित उपयोग नहीं करते, वे सब भगवान् महावीर के अध्यात्म की भाषा में चोर हैं। गहराई में उतरकर इस चोरी को हमें समझना ही चाहिए।

कल्पना कीजिये, एक आदमी घर से निकलता है और जब निकलता है तो दो-चार बच्चे उसके साथ हो लेते हैं। वह हलवाई की दूकान पर पहुँचता है और ताजा मिठाई देख कर ललचा जाता है। मिठाई खरीदने की बात सोचता है। मगर उसे ख्याल आता है कि इस समय खरीदूँगा तो इन बच्चों को भी इस मिठाई में से हिस्सा देना होगा। ये शैतान जो साथ में हो लिए हैं। इन देवताओं की पूजा न करूँगा तो ठीक न रहेगा और फिर वह बालकों से कहता है—'तुम चले आओ, अभी मिठाई नहीं लेंगे। मिठाई अच्छी नहीं है !' और जब बालक चले जाते हैं तो वह आसन जमाकर बैठ जाता है और मिठाई खरीद कर खा लेता है।

तो, मै पूछता हूँ आपसे कि वह मनुष्य जो मिठाई खा रहा है—क्या वह साहूकारी से खा रहा है या चोरी से।

वह कहेगा, जेब से पैसे देकर मिठाई ली है, फिर चोरी कैसे हुई ? आज हमारी जो भाषा है और सोचने-विचारने का ढंग है, उसके अनुसार वह चोरी नहीं समझी जाती !

अगर उस आदमी ने मिठाई हलवाई की नजर बचाकर लेली होती तो वह चोरी कहलाती ; मगर क्योंकि उसने हलवाई को तो उस मिठाई के पैसे दिये है, साधारण रूप में इसीलिए वह चोरी नहीं है, लेकिन क्योंकि वह उन अबोध बच्चों की नजर बचाकर उस मिठाई को खा रहा है, इसीलिए वह चोर नहीं है तो क्या साहूकार है ? क्या उसने उन बच्चों के अधिकार की चोरी नहीं की है। और क्योंकि उसकी उस चोरी का कुप्रभाव उन बच्चों पर पड़ा है, इसलिए वह तो और भी बड़ी चोरी हुई।

अतः इस प्रकार की चोरी का दुष्परिणाम वहीं तक सीमित नहीं रहता। वह कभी-कभी व्यापक अनर्थ उत्पन्न करता है। क्योंकि, वह आदमी उन बच्चों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टरकाकर मिठाई खा रहा है और उनमें से कोई एक बालक अचानक फिर वहाँ पहुँच जाय और उसे मिठाई खाते देख ले तो क्या उस बालक के दिल में, उस आदमी के प्रति, जिंदगी भर के लिए अविश्वास की गहरी जड़ नहीं जम जायेगी ? उसके प्रति बालक के सहज विश्वास को चोट नहीं पहुँचेगी ? बालक के हृदय में उसके प्रति जो प्रेम और आदर की भावना है, वह अक्षुण्ण बनी रहेगी ? क्या बालक सब के प्रति अविश्वासशील नहीं बन जायगा ? और फिर जब वह बालक बड़ा होगा तो क्या अपने से छोटों को इसी प्रकार का चकमा नहीं देगा ? वह झूठ बोलने और छल-कपट करने की शिक्षा नहीं ग्रहण करेगा? उसे स्वार्थ परायणता का पाठ सीखने को नहीं मिलेगा।

यों चुपके-चुपके मिठाई खा लेना एक साधारण-सी बात मालूम होती है, मगर उसके कार्य-कारण भाव की परम्परा पर विचार किया जाय तो वह बहुत गंभीर बुराई प्रतीत होगी। यह छोटी-छोटी जान पड़ने वाली चोरियाँ आज समाज को जला रही हैं। एक डाकू थोड़ी देर तक आतंक पैदा करके कहीं विलीन हो जाता है, मगर यह चोरियाँ उससे भी अधिक भयंकर कार्य कर रही हैं और समाज को गहरे गर्त में गिरा रही हैं।

भोजन संविभाग धर्म :

भोजन के विषय में, शास्त्र में, साधुओं के लिए, एक बड़ी सुन्दर बात बतलाई है। सहभोगी साधु साथ-साथ भोजन करने के लिए बैठे हैं। लाया हुआ भोजन बाँटा जा रहा है। बाँटने वाले के लिए यह आदेश है कि वह पहले अपने लिए भोजन न रख ले, किन्तु दूसरों को देने के बाद जो बचे, वह अपने लिए रक्खे। इसी प्रकार यह नहीं कि दूसरों को साधारण चीजें बाँट दे और अपने लिए अच्छी चीज रख ले। अगर बाँटने वाला इस नियम का पालन नहीं करता और अपने लिए अच्छी-अच्छी चीजें बचा कर रख लेता है, तो वह चोर है !

और जो साधु एक ही पात्र में भोजन करने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि वे हमेशा की गति से ही भोजन करें। अच्छी चीज देख कर जल्दी-जल्दी हाथ मारना भी चोरी है।

उपर्युक्त बातें कितनी साधारण हैं, मगर उनका प्रभाव जीवन में कितनी दूर तक पहुँचता है—इसीलिए जीवन को पवित्र और उच्च बनाने के लिए इन साधारण-सी बातों को ध्यान में रखना परम आवश्यक है—क्योंकि इनका साम्राज्य बहुत विशाल है

हमारे जीवन में, वास्तव में जौहरी की तराजू चाहिए। माली की तराजू वहाँ काम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं देती। माली की तराजू पर थोड़ी शाक-भाजी डाली या न डाली, इस बात का कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, उससे ज्यादा लाभ या हानि नहीं होती। किन्तु उसी तराजू से अगर जौहरी तोलने लगे तो कितनी हानि होगी ? वहाँ तो रत्ती-रत्ती और माशे-माशे का हिसाब है। तो, हमें अपने जीवन को जौहरी की तराजू से तोलना है, न कि माली की तराजू से।

मान लीजिए, कोई साधु ज्ञानी और विचारक है, उसका मस्तिष्क उर्वर है, और उसमें न जाने कितने आचार्यों के चिन्तन और विचार भरे पड़े हैं। उसने भगवान् महावीर की वाणी को ग्रहण किया है। लेकिन इस योग्य होने पर भी यदि वह दूसरों को वह सन्देश नहीं देता है, तो यह भी चोरी का एक रूप है या नहीं—सोचना यह है।

हमारे पास ज्ञान का जो संग्रह है हमने शास्त्रों से और आचार्यों की वाणी से उसे ले लिया है। वह हमारी अपनी चीज नहीं है। उस ज्ञान के लिए हम उन आचार्यों के ऋणी हैं। उस ऋण को चुकाने का एक ही तरीका है कि जब कोई सुपात्र जिज्ञासु हमारे सामने आये तो हम उस ज्ञान को देने में अपना अहोभाग्य समझें। अगर कोई ऐसा नहीं करता, ज्ञान का आदान तो करता है, मगर प्रदान नहीं करता तो वह ज्ञान का चोर है।

मुझे एक बड़े मुनि के सम्बन्ध में मालूम है। एक बार प्रवचन करते समय उन्होंने प्रसंगवश उर्दू-भाषा की एक शेर पढ़ी। उन्हीं दिनों एक दूसरे मुनि वक्ता बनने की तैयारी कर रहे थे। और उसी सभा में वह भी बैठे थे। आप जानते हैं कि सभी लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप सामग्री जुटाने के लिए हाथ-पैर फैलाते हैं। तो उन्होंने उन बड़े मुनि से कहा—'मुनिजी, वह शेर मुझे पसन्द आई और उपयोगी जान पड़ी, अगर उसे मुझे लिखा सकें तो बड़ी कृपा हो।'

बड़े मुनि बोले—'कौन-सा शेर ! मेरे तो ध्यान में नहीं है। यहाँ तो सैकड़ों शेर आते हैं और चले जाते हैं। और भैया ! बात ऐसी है कि मैं जब व्याख्यान देना आरम्भ करता हूँ, तभी शेर याद आते हैं, नहीं तो नहीं आते हैं।'

यह सुनकर मुझे हँसी आ गई। मैंने उस छोटे मुनि से कहा—'भैया, ये तो भीख माँगने वाले हैं, भीख देने वाले नहीं है।'

व्याख्यान में अपनी कल्पनाएँ धारा-प्रवाह के रूप में चलती हैं। संभव है, बाद में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका स्मरण रहे अथवा न भी रहे, मगर जो चीज बनी-बनाई है, जो कहीं से ली गई है, लाई गई है ; और लाई गई है तो उसकी स्मृति भी होनी चाहिए। और स्मृति रहती भी है ; मगर न जाने, देते वक्त मन क्यों काँपता है।

एक मारवाड़ी सन्त ने कहा है–

भीख मांह से भीख दे तो पुण्य मोटा होय रे।

जो भीख तूने प्राप्त की है, उसमें से देने की शक्ति होना बड़ी बात है और देना बड़ा सत्कर्म है।

सार यह है कि जो प्राप्त ज्ञान दूसरों को देने के लिए तैयार नहीं रहता, वह ज्ञान के मार्ग को अवरुद्ध कर रहा है। परम्परा से चले आते ज्ञान के प्रवाह को सुखा डालने का प्रयत्न कर रहा है। भगवान महावीर ने तो कहा है कि योग्य अधिकारी मिले, पात्र मिले और फिर भी जो अपने संचित ज्ञान का अर्पण न करे तो वह ज्ञान का चोर है और वह ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करता है। इसका अर्थ यह है कि उसे आज जो शक्ति प्राप्त है, वह फिर नहीं मिलेगी। सिद्धान्त के नाते यह ठीक ही है। जो चोर होगा वह साहूकार नहीं होगा। चोर और साहूकार में एक प्रकार से विरोध है। कोई कितना ही ज्ञान प्राप्त कर ले अथवा धन जोड़ ले, किन्तु यदि उसकी चोरी कर रहा है तो, इस जन्म में नहीं तो क्या हुआ, अगले जन्म में तो निश्चय ही उसे उससे वंचित होना पड़ेगा।

एक हाथ को महीने भर तक यों ही रहने दिया जाय और उससे कोई हरकत न की जाय तो फिर उसमें हल-चल नहीं होगी। वह हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह जायगा। जैसे शरीर का यह हाल है कि काम न करने से वह झूठा पड़ जाता है, यानी काम करने से इन्कार कर देता है, उसी प्रकार तुम्हें जो शक्ति मिली है, उसका उपयोग नहीं करोगे, यथा अवसर सक्रिय न रहोगे तो वह शक्ति भी झूठी पड़ जायगी और अगले जन्म में फिर वह मिलने वाली नहीं है।

इस चिन्तन को ध्यान में रखकर हमें अपने कर्त्तव्य को ठीक समय पर अदा करना है और अपनी शक्तियों का सदुपयोग करना है। जो धनपति है, उसे अपने धन का समाज के हित के लिए सदुपयोग करना होगा और जो ज्ञानवान् है उसे दूसरों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान देना होगा। जो समाज-सेवक हैं, उन्हें अवसर आने पर समाज की सेवा करनी ही चाहिए।

जीवन-क्षेत्र में अनेक शक्तियाँ हैं, एक ही शक्ति नहीं है। अतएव कोई यह न समझे कि मैं पढ़ा लिखा नहीं हूँ, धनवान् भी नहीं हूँ, तो क्या करूँ ? मैं कर ही क्या सकता हूँ ? मेरी शक्ति ही क्या है ? बहुत बार ऐसी ही भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं। और बहुत लोग अपने को दीन, हीन और असमर्थ मान कर निराश हो जाते हैं। सेवा की भावना रखते हुए भी सेवा नहीं करते। मगर ऐसा सोचना योग्य नहीं है। कौन ऐसा मनुष्य है इस संसार में जिसे समस्त शक्तियाँ प्राप्त हों ? प्रायः धनवान्, ज्ञानवान् नहीं होते और ज्ञानवान्, धनवान् नहीं होते। सभी धनवान् और ज्ञानवान् शारीरिक शक्ति से सम्पन्न नहीं होते। किन्तु कौन ऐसा मनुष्य है इस संसार में, जिसे एक भी शक्ति प्राप्त न हो ? प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई शक्ति तो होती ही है। शक्ति के अभाव में तो जीवन कायम ही नहीं रह सकता। अतएव जो जीवित है, उसमें कोई न कोई शक्ति भी अवश्य है। और ऐसी स्थिति में निराशा की क्या बात है ? तुम्हारे पास धन की शक्ति नहीं है तो न सही, विद्या की शक्ति नहीं है तो कोई चिन्ता नहीं, शरीर तो तुम्हारा शक्तिमान् है ? तुम्हें अगर शक्तिशाली शरीर नसीब हुआ है तो यह भी तुम्हारी एक बड़ी भारी शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा तुम समाज की सेवा कर सकते हो—समाज के काम आ सकते हो। फिर चिन्ता क्यों करते हो ?

कदाचित् तुम्हें सशक्त शरीर भी नहीं मिला है, तो भी निराश मत होओ। शरीर से भी बड़ी विराट और व्यापक शक्ति तुम्हें मन के रूप में मिली है। मन से तुम दूसरों के कल्याण की कामना कर सकते हो। इसी प्रकार वचन के द्वारा भी समाजसेवा के अनेक कार्य किए जा सकते हैं। अपने पवित्र व्यवहार और शुद्ध आचरण के द्वारा भी समाज के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करके सेवा कर सकते हो।

अभिप्राय यह है कि अगर आप सेवा न करने का कोई बहाना ही खोजते हैं, तब तो आप चोरी कर रहे हैं, और यदि आपके अन्तःकरण में सचमुच ही सेवाभाव का उदय हुआ है, तो आपके पास जो भी शक्ति है, उसी का सदुपयोग करो। अपनी शक्तियों का अपलाप न करो, बल्कि समस्त शक्तियों को, जो तुम्हें प्राप्त हैं, दूसरों के लिए प्रयुक्त करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत समझो कि दूसरों के हितार्थ अपनी शक्तियों का व्यय करने से तुम शक्तिहीन हो जाओगे। जब तुम मुक्त मन से अपने आपको जनता के श्रेयस् के लिए अर्पित कर दोगे, तब देखोगे कि तुम्हारी एक-एक शक्ति सौ-सौ रूप ग्रहण कर रही है। तुम शक्तिहीन नहीं, अधिक शक्तिमान् बन रहे हो, तुम्हारी शक्तियों का ह्रास नहीं, विकास हो रहा है। वह हजार और लाख गुना होकर तुम्हारे सामने आ रही है।

भगवान महावीर का पथ संकीर्ण नहीं है। उस पर चलने के लिए न श्रीमन्त होना आवश्यक है और न पण्डित होना ही अनिवार्य है। वह जैसे श्रीमन्तों और पण्डितों के लिए है, वैसे ही, बल्कि उससे जो ज्यादा, अकिंचनों के लिए भी है।

भगवान् ने इसीलिए तो नौ पुण्य बतलाये हैं। एक भूखा आपके सामने आता है अथवा एक प्यासा आपके पास आता है। आप उसे भोजन और पानी दे देते हैं तो आप पुण्य का उपार्जन करते हैं। कोई नंगा और उघाड़ा है और उसका तन ढँकने के लिए आपकी सन्दूक में से एक वस्त्र बाहर आता है तो भी आप पुण्य कमाते हैं और अपने लिए स्वर्ग का द्वार खोलते हैं। इस प्रकार अनेक पुण्य बतलाने के बाद गहराई में उतर कर भगवान् बोले—संभव है, कोई ऐसी स्थिति में हो कि अन्न, वस्त्र आदि का दान न कर सकता हो, स्वयं इनके अभाव में पीड़ित हो, तो वह पुण्य कैसे कर सकेगा? अन्न और वस्त्र आदि का दाता तो इन्हें देकर पुण्य कमा लेगा, पर इन चीजों को लेने वाला दरिद्र किस प्रकार पुण्य उर्पाजन कर सकेगा। क्या उसके लिए पुण्य का द्वार बन्द है? नहीं, पुण्य का द्वार हरेक के लिए और हरेक परिस्थिति में खुला है। जिसके पास और कुछ भी देने को नहीं है, उसके पास भी आखिर शरीर तो है ही और वह शरीर के द्वारा ही पुण्य का उपार्जन कर सकता है। बच्चा चलते-चलते ठोकर खा गया है तो उसे उठा दो। अन्धे को मार्ग बतला दो। किसी बीमार की सेवा करने के लिए कोई नहीं है तो आत्मीय जन समझ कर उसकी सेवा कर दो। यह काय-पुण्य है। मनुष्य का शरीर शक्ति का भंडार है, अगर सेवा के लिए उसका उपयोग किया गया तो यह भी बड़ा भारी पुण्य है।

वचन के विषय में पहले कहा जा चुका है। और कुछ भी न बन पड़े तो जीभ से गुणी जनों की प्रशंसा ही कर दो। पुण्यात्माओं की प्रशंसा करना भी पुण्योपार्जन का एक द्वार है—एक पुण्य है। अतएव जो पुण्यकार्य कर रहे हैं, उनका गुणगान करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हारे प्रशंसा-वचन उसको आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा ही देंगे। यह भी पुण्य का काम है। कहा है–

वचने का दरिद्रता

बोलने में कृपणता क्यों करते हों ? प्रशंसा का एक वचन बोल दिया तो क्या खजाना खाली हो जायगा ?

और फिर तुम्हें मन भी प्राप्त है। मन में शुभ भावनाएँ और पवित्र संकल्प करो और बार-बार प्रभु के चरणों में प्रार्थना करो–

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

प्रभो ! मेरे मन में मंगलमय संकल्प ही जागृत रहें।

इस प्रकार जैनधर्म द्रव्य और भाव दोनों में ही चल रहा है। अतएव जिसके पास स्थूलशक्ति है, वह भी समाजसेवा कर सकता है और जिसके पास वह नहीं है वह भी सेवा कर सकता है।

तो, सेवा का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त है। फिर भी जो अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करता या गलत उपयोग करता है, वह ज्ञानियों की दृष्टि में अपनी शक्ति की चोरी करता है। जो इस प्रकार की चोरी से भी बचेंगे, वही वास्तव में अपनी आत्मा का उत्थान और कल्याण करेंगे।

ब्यावर, अजमेर
२३.१०.५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ समस्या और समाधान

अहिंसा और सत्य के पश्चात् अचौर्यव्रत भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण व्रत है। अचौर्यव्रत एक प्रकार से अहिंसा और सत्य की कसौटी है। अतएव उस पर भी सावधानी के साथ गंभीर तथा तलस्पर्शी विचार करना आवश्यक है।

अस्तेय का व्यवहार पक्ष भी बड़ा प्रबल है। वह मानव जीवन के प्रत्येक व्यवहार क्षेत्र में साधना की अपेक्षा रखता है। अतएव उसका प्रधान क्षेत्र वहीं है जहाँ मनुष्य दूकानदारी करता है या ऑफिस में काम करता है या जीवन-निर्वाह के लिए अन्यत्र कोई काम करता है। इस प्रकार अहिंसा और सत्य जीवन में अवतरित हुए हैं या नहीं, इस तथ्य की परीक्षा जीवन व्यवहार में ही होती है और उनकी परीक्षा की कसौटी अस्तेय है। जिसका जीवन व्यवहार अस्तेयपूर्वक चल रहा है, समझा जा सकता है कि उसके जीवन में अहिंसा भी आ गई है और सत्य भी आ गया है। इसके विरुद्ध जिस व्यक्ति के जीवन व्यवहार में अस्तेय नहीं है, जो चोरी करके, छल-कपट और बेईमानी करके, दूसरों को ठग करके और दूसरों के हित की सर्वथा उपेक्षा करके अपनी आजीविका चला रहा है, मानना पड़ेगा कि उसके जीवन में अहिंसा और सत्य का आविर्भाव नहीं हुआ है।

जैन धर्म जीवन के सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कह रहा है वह यह कि क्या अहिंसा और क्या सत्य, जो भी साधना के अंग हैं, वे केवल घड़ी दो घड़ी के लिए नहीं हैं। अर्थात् यह नहीं कि किसी विशिष्ट काल में किसी विशेष क्षेत्र में उनका पालन या आराधन कर लिया और छुट्टी पा ली। शेष जिन्दगी में उनका कोई स्थान नहीं है !

जैनधर्म यही कहता है कि मनुष्य जहाँ कहीं भी है, जैसी भी स्थिति में है, वहीं उसे अहिंसा और सत्य की साधना करनी है। फलतः वह जहाँ कहीं भी जीवन व्यवहार के संघर्ष में लगा है वहीं उनका पालन कर सकता है।

जो मनुष्य अचौर्यव्रत को ग्रहण कर लेता है, चोरी को छोड़ देता है उसके जीवन में अहिंसा और सत्य का रूप अपने आप शुद्ध होने लगता है। क्योंकि जब किसी तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अपना उल्लू सीधा नहीं करना है और धोखा देकर नहीं कमाना है, तो हिंसा और असत्य अपने आप ढीले पड़ जाएँगे। वहाँ क्रूरता या छलछँद का दुर्भाव कैसे रह सकता है ?

इसीलिए इस अस्तेय व्रत को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है; जितना कि अहिंसा और सत्य के व्रत को। अहिंसा और सत्य व्रत की रक्षा अचौर्यव्रत के द्वारा ही हो सकती है। यदि मनुष्य ईमानदार है, जैसी वस्तु है उसका उसी रूप में व्यवहार करता है, ज्यादा नफा लेकर दूसरे का गला नहीं काटता है, और प्रामाणिकता पूर्वक दूसरे सभी काम भी करता है, अर्थात् सावधानी के साथ अचौर्यव्रत का पालन करता है तो उसके अहिंसा और सत्य व्रत भी सुरक्षित हो जाते हैं।

इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि मैंने यह सब सुना दिया और आप सबने वह सब कुछ सुन लिया, बस सब काम पूरा हो गया। बात तो वास्तव में यह है कि जब तक आप जीवन में इस व्रत का उपयोग नहीं करेंगे। तब तक अपने जीवन को प्रगति के पथ पर नहीं डाल सकेंगे। जीवन में महत्ता प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

पहले की तरह आज भी विचारकों के कुछ प्रश्न हमारे सामने हैं। व्याख्यान, व्याख्यान हैं, रिकार्ड बजना नहीं। रिकार्ड एक बार चढ़ा दिया तो अविराम गति से बजता रहता है। उसको बीच में रोकना चाहें और कहें कि जरा ठहरो, हमें विचार करना है, तो वह ठहेरगा नहीं। मैं रिकार्ड की तरह व्याख्यान नहीं देना चाहता कि बजता रहूँ, लगातार बोलता ही जाऊँ और बीच में कोई पूछने जैसी बात आ जाय तो बस खेल खत्म हो जाय ! व्याख्यान का उद्देश्य यही है कि हमें प्रत्येक टॉपिक पर, हरेक मुद्दे पर विचार और चिन्तन करना चाहिए। यही चीज व्याख्यान कहलाती है। अतएव अस्तेय के सम्बन्ध में, हमारे सामने जो प्रश्न प्रस्तुत हुए हैं, उन पर भी आज हमें विचार कर लेना चाहिए।

पहला प्रश्न है—कोई मनुष्य दूकान करता है और उस हालत में दूसरी दूकान से या किसान के घर से माल लाता है। जो ज्यादा तोल कर ले आता है, डंडी मारता है और जितने माल के पैसे देता है, उससे अधिक माल तोल कर ले आता है।

दूसरा मनुष्य वह है कि जिसके यहाँ कोई ग्राहक जाता है तो वह कम तोल देता है। मतलब यह है कि ग्राहक ने जितने माल के पैसे दिये हैं, उसे उतना माल मिलना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए, परन्तु वह उससे कम देता है। वह वायदा करता है कि इस भाव में दूँगा ; और जब देता है तो कम तोलता है।

तीसरा आदमी बाँट भी खोटे रखता है। देने के लिए दूसरे और लेने के लिए दूसरे रख छोड़ता है। देते समय छोटे और घिसे हुए बाँटों का उपयोग करता है और लेते समय बड़े और भारी बाँटों का उपयोग करता है। इसी प्रकार नाप भी छोटे बड़े रखता है।

चौथा मनुष्य है जो रात्रि में, गलती से आये हुए जाली सिक्कों को अनजान बच्चों या बहिनों में चला देता है।

पाँचवाँ आदमी 'ब्लेक मार्केट' करता है।

छठा मनुष्य एक बड़ा सट्टेबाज है। वह अपनी पूँजी के बल से बाजार के भावों को एकदम घटा-बढ़ा देता है। वह एकदम खरीदता जाता है और भाव बढ़ा देता है और फिर बेचते-बेचते भाव को गिरा देता है और बाजार में उथल-पुथल मचा देता है और हजारों छोटे व्यापारियों की जिन्दगी को खत्म कर देता है। यहाँ व्यावर में तो इतना ज्यादा असर नहीं पड़ता है, किन्तु बम्बई और कलकत्ता जैसे बड़े शहरों में बड़े-बड़े सटोरिये ऐसा ही किया करते हैं।

प्रश्न यह है कि इन सब रूपों में चोरी समझी जाय या नहीं ? चोरी का स्वरूप अदत्तादान बतलाया गया है, अर्थात् किसी की वस्तु उसके दिए बिना ले लेना चोरी है और ऊपर जो रूप बतलाये गये हैं, उनमें साधारणतया इस प्रकार का आदान-समझ में नहीं आता। अतएव स्वभावतः बहुत लोगों के मन में यह आशंका उत्पन्न होती है कि इन्हें अदत्तादान समझा जाय या नहीं ?

मगर जहाँ तक जैनशास्त्रों का सम्बन्ध है और उनकी जानकारी का प्रश्न है, यह सब रूप चोरी के ही अन्तर्गत हैं। जैन शास्त्रों में स्पष्ट कहा है–

'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान–प्रतिरूपक व्यवहाराः।'

– तत्त्वार्थसूत्र।

चोर को चोरी करने का उपाय बतलाना, चोर द्वारा चुराई हुई चीज को ग्रहण करना, राजकीय मर्यादा का उल्लंघन करना, छोटे-बड़े नाप-तोल रखना और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलावट करके व्यापार करना या अच्छी चीज की बानगी दिखाकर बुरी चीज दे देना, यह सब अस्तेय व्रत के अतिचार हैं ; एक प्रकार की चोरी है।

अस्तेय व्रत और अतिचार :

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी है। प्रत्येक व्रत के हमारे यहाँ पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अतिचार पाँच ही होते हैं और पाँच से ज्यादा नहीं हो सकते। पाँच की संख्या तो मात्र उपलक्षण है।

उपलक्षण तो आप समझते हैं ? एक आदमी कटोरे में दूध रखकर किसी काम से अन्यत्र जा रहा है। वह वहीं के बैठे हुए दूसरे साथी को कह जाता है—देखना भाई, मैं अभी आता हूँ ; बिल्ली आकर दूध न पी जाए। इतना कह कर वह आदमी चला जाता है। उसके चले जाने के बाद बिल्ली तो नहीं, पर कुत्ता आता है और दूध की ओर लपकता है। अब आप सोचें कि दूध के पास बैठा हुआ मनुष्य उस कुत्ते को रोकेगा या नहीं ? स्मरण रखना है कि दूध वाले ने, जाते समय, बिल्ली का नाम लेकर दूध की रखवाली रखने की बात कही थी। उसने कुत्ते से बचाने को नहीं कहा था। तब वह मनुष्य दूध की रक्षा के लिए कुत्ते को भगाये या नहीं ? प्रश्न दूध का है और इसलिए कठिन नहीं है। आप समझ जाएँगे और कहेंगे कि कहने वाले ने भले 'बिल्ली' कहा हो, पर उसका आशय तो कुत्ते से भी बचाने का है। दूध को क्षति पहुँचाने वाले, बिगाड़ने वाले जितने भी जीव-जन्तु हैं, उन सब का समावेश 'बिल्ली' में हो गया है।

तो बस, इसी को कहते हैं उपलक्षण। बात भले ही एक कही गई हो, परन्तु जहाँ उसके समान और-और बातों का भी ग्रहण होता है, वह उपलक्षण कहलाता है।

व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार भी उपलक्षण हैं। उनमें से प्रत्येक अतिचार में अनेक तत् सदृश बातों का समावेश होता है। अतएव जो व्यवहार साक्षात् अदत्तादान-रूप न हो और जिस का उल्लेख उसके पाँच अतिचारों में न हो, वह भी अगर अस्तेय व्रत की भावना के प्रतिकूल है, उसमें अप्रामाणिकता और बेईमानी है, तो वह अदत्तादान में ही गिना जायगा।

उदाहरण के लिए 'ब्लैक मार्केट' को ही ले लीजिए। ब्लैक मार्केट इस युग की देन है। प्राचीन युग में वह नहीं होता था। अतएव अदत्तादान के अतिचारों में उसका साक्षात् उल्लेख नहीं है, फिर भी है तो वह चोरी ही। जैनशास्त्रों से अनभिज्ञ लोग भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे 'चोर बाजार' ही कहते हैं। यदि यह अतिचार उपलक्षणरूप न माने जाएँ तो 'ब्लैक मार्केट' को हम चोरी में शुमार नहीं कर सकते और तब क्या उसे साहूकारी का धंधा मानेंगे ? जिसे सारी दुनिया चोरी का धंधा कहती है, उसे हम साहूकारी का धंधा मानेंगे तो गजब हो जायगा ! यह तो जैन धर्म पर अमिट कलंक होगा।

हाँ, तो ऊपर बतलाये हुए रूपों में चोरी है, इस कथन में किसी को विवाद और संशय नहीं होना चाहिए। अस्तेय व्रत सम्बन्धी अतिचारों के वर्णन में उल्लेख है कि भाव किसी और वस्तु का किया है और बेची कुछ और ही वस्तु है तो वह चोरी की दृष्टि है, अतः यह व्यवहार चोरी में ही शामिल है।

अनजान में जो चीज हो जाती है, वह तो दूसरी बात है, किन्तु जान-बूझ कर, दूसरे को धोखा देकर जो कमाई की जा रही है, वह जैनधर्म की दृष्टि में चोरी ही मानी जाती है।

चोरी के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है, पर स्थूल चोरी किसे समझा जाय और सूक्ष्म चोरी किसे कहा जाय ? आम तौर पर श्रावक के लिए त्याज्य स्थूल चोरी की व्याख्या वह समझी जाती है कि जिसे 'राज दण्डे और लोक भाँड़े' वही स्थूल चोरी है।

मैं समझता हूँ, जिस चोरी को राज्य अपराध समझता है और लोग निन्दनीय समझते हैं, वह तो स्थूल चोरी है ही, किन्तु इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। आजकल के बाजार में और व्यवहार में ऐसी चीजें चल रही हैं, जिनके लिए राजा दंड भी नहीं देता और जिनकी सर्वसाधारण लोग निन्दा भी नहीं करते फिर भी उन्हें सूक्ष्म चोरी नहीं कह सकते।

बाजार के भावों को ऊँचा-नीचा कर देना और हजारों का शोषण करके अपना पेट भर लेना; क्या स्थूल चोरी नहीं है ? इससे हजारों छोटे-छोटे सटोरिये मारे जाते हैं और एक बड़ा सटोरिया लाखों एकदम समेट लेता है। यह स्थिति होने पर भी उसे न राजा दण्ड देता है और न चोर के रूप में समाज ही उसे भाँड़ता है ! मगर आप न्याय कीजिए कि हजारों व्यापारियों को मुसीबत में डाल देना, क्या स्थूल चोरी नहीं है ?

जिससे जनता पर बड़ा भारी कुप्रभाव पड़ता हो, जिसमें निर्दयता का भाव हो, उसे चाहे राज दण्डे या न दण्डे, लोक भाँड़े या न भाँड़े, फिर भी उसकी गणना स्थूल चोरी में ही की जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोरी के सम्बन्ध में तीसरी जो बात है, उसका सम्बन्ध व्यापारियों से नहीं, साहित्यिकों से है। किसी साहित्यकार ने एक ग्रन्थ बनाया है। अथवा कविता लिखी है। दूसरे सभी लोग न वैसा ग्रंथ लिख सकते हैं, न वैसी कविता रच सकते हैं। तब वे उस ग्रंथ या कविता में से कुछ भाग चुरा लेते हैं और एक नयी-सी चीज तैयार कर लेते हैं। जिस ग्रन्थ से वह लिया गया है, उस ग्रंथ का या उसके लेखक के नाम का उल्लेख नहीं करते हुए अपने नाम से उसे प्रकाशित करा देते हैं, यह भी चोरी है अथवा नहीं ?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यही है कि ऐसा करना भी चोरी है। यहाँ तो साफ ही अदत्त का आदान किया जा रहा है। केवल यह समझना आवश्यक है कि चोरी का मतलब सिक्के, नोट, कपड़ा, जेवर या अन्न ही चुराना नहीं है, बल्कि किसी दूसरे के हक की कोई भी वस्तु हड़प लेना, छीन लेना, छुपा लेना और अपनी बना लेना भी चोरी ही है।

यह चोरी भी आजकल खूब चलती है। लोगों को अकसर मालूम नहीं पड़ता कि यह चीज मूलतः किसकी है ? बड़ी चतुरता से दूसरा उसे अपने नाम से प्रकट और प्रकाशित कर देता है और जनसाधारण में वाहवाही लूटता है। जिसकी चीज ली है, उसका यदि उल्लेख कर दिया जाय, तो चोरी से बचा जा सकता है, किन्तु ऐसा न करके उसे अपनी चीज के रूप में प्रकट करना तो सीधी चोरी ही है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि खुद में तो लिखने की योग्यता नहीं होती, पर लेखक कहलाने की महत्त्वाकांक्षा रोकी भी नहीं जाती। तब वह दूसरे से लिखा लेता है और अपने नाम से प्रकट करा देता है। यह भी सिद्धान्त की दृष्टि से चोरी है।

अपने विचारों में बल नहीं है, शक्ति नहीं है, तो मनुष्य को दूसरों के विचारों से लाभ उठाना चाहिए, परन्तु उसे प्रामाणिकतापूर्वक ही ऐसा करना चाहिए। अपने ग्रंथ में दूसरे के विचारों का या वाक्यों का उल्लेख करना या उदाहरण देना कोई बुराई नहीं है, बल्कि कभी-कभी तो ऐसा करना आवश्यक होता है और ऐसा करने से उस ग्रंथ मे सुन्दरता आ जाती है, परन्तु दूसरे के लेख को अपना ही लेख बना कर प्रकाशित करना उचित नहीं है।

व्यापारी चोरी करके सिक्के इकट्ठा करता है और लेखक चोरी करके प्रतिष्ठा और गौरव प्राप्त करना चाहता है। बात एक ही है। सिद्धान्त की दृष्टि में यह नाम की चोरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार बड़े-बड़े अधिकारी या छोटे-छोटे कर्मचारी, किसी गद्दी पर बैठकर काम करते हैं और उस काम के लिए वेतन पा रहे हैं, किन्तु अपने कर्त्तव्य को, ईमानदारी के साथ, पूरा नहीं करते। जितना परिश्रम करना चाहिए, उतना करने से जी चुराते हैं और अपने उत्तरदायित्व का पूरी तरह से पालन नहीं करते और इधर-उधर की गप्पों में समय नष्ट कर देते हैं, तो सिद्धान्त की दृष्टि से यह भी चोरी है। चोरी का सम्बन्ध सिर्फ दूकानदारी के साथ नहीं है। मनुष्य किसी भी क्षेत्र में कोई भी काम क्यों न करता हो; यदि उसे प्रामाणिकता के साथ नहीं करता है तो वह स्पष्टतः चोरी करता है।

आज सब ओर रिश्वत का बाजार गर्म है। जहाँ देखो वहीं छीना झपटी हो रही है। किसी को दूर का टिकट लेना है तो रिश्वत चाहिए। मालगाड़ी से माल भेजना है तो घूँस चाहिए। मकान बनवाना है, किन्तु आज्ञा नहीं मिल रही है, रिश्वत चाहिए। मारपीट हुई है और थाने में रिपोर्ट लिखवानी है, मगर रिश्वत दिए बिना ठीक तरह रिपोर्ट नहीं लिखी जायगी।

घूंस और अस्तेय :

इस प्रकार सब जगह घूंस का बोलबाला है। उसकी व्यापकता ने भारत के नैतिक बल को क्षीण कर दिया है और मनुष्यता का ह्रास होता चला जा रहा है।

अभी-अभी प्रश्न चल रहा था कि व्यापारी कहते हैं—सरकार हमारा साथ नहीं देती और सरकार कहती है—व्यापारी हमारा साथ नहीं देते। व्यापारी जब रिश्वत देकर आता है तो सोचता है मुझ पर यह व्यर्थ का वजन पड़ गया है, तो अब उसे हल्का करना ही होगा। जो थैली खाली हो गई है, उसे फिर भरनी होगी और ऐसी धारणा मन में धारण कर वह काला बाजार करता है। और काला बाजार चोरी है—तो वह रिश्वत भी क्या चोरी नहीं है? छोटे और बड़े अधिकारी, कमती या ज्यादा, जो भी रिश्वत ले रहे हैं वह भी चोरी है और यह श्रावक के लिए त्याज्य है।

महेन्द्रगढ़ के लाला ज्वाला प्रसाद जी को आपमें से बहुत लोग जानते होंगे। उनकी मोटरें जब कभी इधर-उधर जातीं तो उन्हें कोई रोकता नहीं था, फिर भी वे चुंगी-चौकी पर खड़ी हो जाती थीं। जब खड़ी हो जाती तो ड्राइवर से पूछा जाता—क्या है? ड्राइवर कहता—पूछने की क्या बात है, आप स्वयं आकर देख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लीजिए। मगर चुंगी वाला उनकी मोटर देखने न आता। लाला जी की प्रामाणिकता की चुंगी के अधिकारी के मन पर ऐसी गहरी छाप थी। इस छाप का एक मात्र कारण यही था कि लालाजी कभी चुंगी की चोरी नहीं करते थे। उन्होंने अपने कर्मचारियों को भी ऐसी ही हिदायत कर रक्खी थी। पर आज देखते हैं कि करोड़पति भी चुंगी की चोरी करते हैं और जब कभी पकड़ में आ जाते हैं तो सारी कसर निकल जाती है। चुंगी की चोरी करना भी स्थूल चोरी है। अस्तेय-व्रती न कभी ऐसी चोरी करेगा और न घूंस खाकर करने देगा। वह न रिश्वत लेगा, न देगा।

इस प्रकार जो विवेक-पूर्ण जीवन-व्यवहार करेगा, उसी का जीवन पवित्र और उज्ज्वल बनेगा और वही भगवान् महावीर की दृष्टि में ऊँचा उठा माना जायगा।

तात्पर्य यह है कि चोरी के अनेक रूप हैं और उन अनेक रूपों को विवेकशील पुरुष का अन्तःकरण भली प्रकार से जान भी जाता है। ऐसा करते समय वह अन्दर में इन्कार भी करता है; मगर उसके हटने पर भी जो नहीं मानता, वह अपने हृदय की हत्या करता है।

प्रासंगिक रूप में एक प्रश्न और उपस्थित होता है—एक आदमी अन्याय से पैसा पैदा करता है और साथ ही दान भी देता है, तो क्या यह धर्म माना जाय ?

इस प्रश्न के उत्तर में दो बातें हैं। पहली यह कि, एक आदमी अज्ञानवश धन इकट्ठा करता रहा है, ऐसा करने में उसने न्याय और अन्याय को नहीं जाना है; किन्तु एक दिन संतसमागम से, सत्साहित्य के अध्ययन से अथवा किसी ज्ञानवान् के सम्पर्क से उसके अन्तःकरण में विवेक जागा, सद्भावना जागी और वह सोचने लगा —मैंने अन्याय से, अत्याचार से, चोरी से या ब्लैक मार्केट से धन का संचय कर लिया है, यह बड़ा गुनाह किया है। अब मेरा कर्त्तव्य है कि 'मैं उसमें से कुछ धन जनता के हित में लगा दूँ।' अगर किसी में इस प्रकार की बुद्धि जागी है तो मैं समझता हूँ कि यह बड़ा भारी धर्म है।

मूल्य पैसे का नहीं, भावना का है। पैसा किधर से भी आया, किन्तु आया है और उसके आने के बाद यदि शुभ भावना जागी है और पैसे वाला पश्चाताप करता है कि बड़ा भारी पाप हो गया है, और उसके प्रायश्चित के रूप में वह जनता की सेवा में उसे अर्पित कर देता है; तो वह जीवन की महत्ता है। उसका अर्पण धर्म है, अधर्म नहीं है। यह नहीं कि इस प्रकार पाप से आये हुए पैसे का दान करना दान ही नहीं है !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रसंग पर एक घटना याद आ गई। एक बार हम विहार करके जा रहे थे। गर्मी तेज थी और धूप कड़ी थी। मार्ग में एक निवास मिला, आस-पास हरे-भरे सघन वृक्ष भी थे। हम विश्रान्ति के हेतु वहाँ बैठने लगे तो कुछ लोगों ने कहा—'महाराज ! यहाँ मत बैठिए।'

मैंने पूछा—'क्या बात है भाई ?'

वे आपस में फुस-फुस करने लगे और फिर एक ने कहा—'महाराज, यह निवास एक वेश्या ने बनवाया है और यह पेड़ भी उसी ने लगवाए हैं। अतएव यहाँ बैठना पाप है।'

मैंने पूछा—उस वेश्या का जीवन कैसा है ? तब उसने कहा—पहले तो उसका पापमय जीवन था ; किन्तु बाद में शायद यह सोचकर कि मैंने बहुत गुनाह किये हैं, जिन्दगी को बर्बाद कर लिया है। उसने अपना वेश्या का धंधा छोड़ दिया और प्रभु-भजन में लग गई। उसके पास जो पैसा था, उससे यहाँ यह कार्य किया है।

यह सुनकर मैंने कहा—यदि उसका जीवन बदल गया, विचार बदल गये और अपने पहले के गुनाहों के लिए उसके हृदय में पश्चाताप का भाव उत्पन्न हुआ, फलतः उसने प्रायश्चित किया, तो तुम क्या चाहते हो ? क्या उसे धर्म नहीं करने देना चाहते ?

इसके बाद मैंने फिर कहा—बात यह है भाई, कि पैसा किसी भी तरह आया हो, किन्तु यदि वह सद्बुद्धि से उस धन को इस रूप में खर्च करता है तो कोई बैठे या नहीं, मैं तो बैठूँगा ही। एक बार किसी ने बुराई कर ली तो इसके बाद के बदले हुए पवित्र जीवन के सत्कर्मों को भी गुनाह ही समझना और पाप कहना, किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

सद्बुद्धि जागृत होने पर, पैसा जिससे आया हो, उसे लौटा दिया जाय तो अच्छा है। अगर लौटाने की व्यवस्था नहीं हो सकती हो उसका प्रायश्चित कर लेना भी ठीक है।

हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। कोई आदमी एक ओर तो चोरबाजारी करता जा रहा है, अनीति से अपनी तिजोरियाँ भरता जा रहा है और उधर कुछ पैसे धर्म के काम में लगा रहा है, और फिर भी वही अनीति करता चला जा रहा है, इस प्रकार एक तरफ गुनाह हो रहा है और दूसरी तरफ प्रायश्चित भी हो रहा है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्त की दृष्टि से यह वास्तविक प्रायश्चित नहीं है। जिसे गुनाह से वास्तव में नफरत हो जायगी, यह प्रायश्चित करेगा तो फिर दुबारा लौटकर गुनाह नहीं करेगा। कम से कम जानबूझ कर तो नहीं ही करेगा। और जो प्रायश्चित के पश्चात् भी पूर्ववत् निःसंकोच भाव से गुनाह करता जा रहा है, उसका प्रायश्चित कोरा ढोंग है, समाज में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का ढंग है, अपनी अनीति पर धर्म का पालिश चढ़ाना है। यों तो बड़े-बड़े डाकू भी एक ओर लूटते रहते हैं और दूसरी ओर ब्राह्मण भोज कराया करते हैं। और ठाकुर जी का मन्दिर भी बनवाते जाते हैं। मगर जैनधर्म की दृष्टि में यह धर्म नहीं है।

मिच्छा मि दुक्कडं :

इस भाव को व्यक्त करने के लिए हमारे यहाँ एक कथा आती है। एक बार कुछ साधु किसी कुम्हार के घर पर ठहरे हुए थे। पास में कच्चे घड़े धूप में सूख रहे थे। कुतूहल-वश एक क्षुल्लक साधु ने कंकर उठाया और एक घड़े में मार दिया। घड़े में छेद हो गया। यह देख कुम्हार ने उसको उपालम्भ दिया। क्षुल्लक साधु ने कहा—**'मिच्छा मि दुक्कडं।'** बात रफादफा हो गई। कुम्हार ने पीठ फेरी और क्षुल्लक साधु ने दूसरा कंकर उठाकर दूसरे घड़े में दे मारा। कुम्हार ने उसे फिर उलाहना दिया। उसने फिर वही वाक्य दोहरा दिया—'मिच्छा मि दुक्कडं।'

कुम्हार कुछ सोचकर कर शान्त रह गया, मगर साधु शान्त न रह सका। उसने तीसरी बार कंकर उठा कर तीसरे घड़े को फोड़ दिया।

कुम्हार ने फिर सोचा—यह हजरत यों मानने वाले नहीं। इनकी 'मिच्छा मि दुक्कडं' तो मुझे बर्बाद कर देगी।

यह सोच कर कुम्हार उसके पास आया और उसका कान पकड़ कर जोर से ऐंठ दिया।

जब साधु ने ऐसा करने का विरोध किया तो कुम्हार ने कहा 'मिच्छा मि दुक्कडं।' और इतना कह कर फिर कान ऐंठा और फिर 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहा।

साधु समझ गया कि इस प्रकार का 'मिच्छा मि दुक्कडं' कोई मूल्य नहीं रखता। अन्तःकरण से प्रायश्चित करने वाला फिर जान-बूझ कर गुनाह नहीं करेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार का एक और प्रश्न भी उपस्थित होता है। किसी ने अनीति से पैसा कमाया है, या कमा रहा है, उसके यहाँ किसी ने भोजन कर लिया। भोजन करने वाले को यह बात मालूम नहीं है, और सम्भव है, मालूम होने पर भी नातेदारी की वजह से या किसी सम्बन्ध के कारण खा लेता है, तो प्रश्न है कि उस भोजन करने वाले व्यक्ति को उनकी अनीति के किसी अंश का कुफल भोगना पड़ेगा या नहीं ?

मैं समझता हूँ कि इस विचार में सचाई नहीं है। बात यह है कि संसार बहुत विराट है, अतः कौन क्या कर रहा है, यह जान लेना बड़ा कठिन है। ऐसी स्थिति में एक भूखा आता है और भोजन कर लेता है, कोई प्यासा आकर पानी पी लेता है या साधु जाकर आहार-पानी ले आता है, तो इससे उसके पाप का अंश आहार-पानी लेने वाले को भी लगता है; यह चिन्तन न्यायमूलक नहीं है। अन्याय से पैसा पैदा करने वाले का जो समर्थन और अनुमोदन नहीं करता, जो उससे अलग है और जो अनजान में चला गया है और यथावसर कुछ खा-पी लेता है, वह उसके पाप के अंश का भागी हो, यह एकान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता।

परन्तु शायद यह बात आपके ध्यान में नहीं आएगी; क्योंकि कहा है–

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी॥

परन्तु इस उक्ति पर शान्ति के साथ विचार करना चाहिए। वास्तव में चोर का अन्न कौन खाता है ? जो चोरी करके लाया है और डाका डाल कर लाया है, उसका अन्न उसके परिवार वालों को मिलता है और उन्हीं के लिए यह उक्ति चरितार्थ होती है। चोर और डाकू के परिवार वाले उसकी चोरी और डकैती का अनुमोदन करते हैं। वह परिवार एक गिरोह के रूप में है। उन्हीं के लिए वह पैसा और अन्न आया है और वे भली-भाँति जानते हैं कि यह किस प्रकार आया है ? अतएव वे जैसा अन्न खाते हैं वैसा ही उनका मन हो जाता है। यहाँ यह सिद्धान्त ठीक है। किन्तु चोर अपने लिए चोरी कर रहा है और एक सन्त, जिन्हें उसकी आजीविका के विषय में जानकारी नहीं है, उसके यहाँ पहुँच जाते हैं और भिक्षा ले जाते हैं, अथवा कोई गृहस्थ, जो उसकी बुराई का समर्थक नहीं है और जिसमें चोरी का कोई भाव नहीं है, उसके घर कारणवश भोजन कर लेता है, तो उस चोर का पाप उन संत और उस गृहस्थ को चिपट जायगा, यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन सिद्धान्त नहीं कहता। जैन सिद्धान्त यह भी नहीं कहता कि उसका अन्न खाने के कारण उनके मन में भी चोरी करने के विचार उत्पन्न हो जाएँगे।

पापी का अन्न अगर बुरे विचार उत्पन्न करता है तो धर्मात्मा का अन्न अच्छे विचार उत्पन्न करेगा। तब तो जनता के विचारों को सुधारने का सस्ता नुस्खा हाथ लग गया। किसी धर्मात्मा के घर से लाए आटे की गोलियाँ बनाओ और सब को बाँटते चलो। लोग खाते जाएँगे और अच्छे विचार वाले बनते जाएँगे। क्या यह बात आपके दिमाग को अपील करती है ? क्या किसी भी सिद्धान्त से इसका समर्थन होता है ?

अन्न के पीछे दुर्भावनाओं का जो संग्रह है, वही पाप को पैदा करता है, उस अन्न या पानी में पाप नहीं है, जिससे कि हमारे पेट में पाप का कचरा चला जाय ! इस प्रकार पाप लगने लगें तो किसी के भी ऊँचे विचार नहीं टिक सकते।

अन्न को इतना महत्त्व मिला है कि जात-पाँत में भी वह विशेष महत्त्व की चीज बन गया है। वैदिक साधुओं में दंडी संन्यासी होते हैं। वे भिक्षा के लिए केवल ब्राह्मण के घर ही जाते हैं। उसके घर के अन्न को ही शुद्ध अन्न मानते हैं और कहते हैं—यह अन्न विचारों और भावनाओं को शुद्ध करेगा। दूसरों के यहाँ का अन्न ठीक नहीं है। उनके यहाँ का खाया हुआ अन्न हमारे विचारों को अशुद्ध बना देगा।

इस प्रकार अन्न के प्रश्न को लेकर जात-पाँत का भेद-भाव बड़ा विकट रूप धारण कर गया है, उसकी जड़ें लोक मानस में बहुत गहराई तक जा पहुँची हैं।

सुनार तथा सन्त :

एक कहानी प्रचलित है। किसी सन्त ने सुनार के यहाँ से अन्न ला कर खा लिया तो उसके मन में चोरी के विचार आने लगे। जब उसने अपने विचारों के कारण को सोचा तो मालूम हुआ कि वह सुनार के यहाँ से अन्न लाया था और यह उसी अन्न का प्रभाव है कि उसके मन में ऐसे गंदे विचार उत्पन्न हुए हैं। और उसने उसी समय उल्टी कर उस अन्न को पेट के बाहर निकाल दिया। बस, उसको अच्छे विचार आने लगे।

ठीक है, यह एक कथा है; मगर इस कथा में कोई वैज्ञानिक तथ्य नहीं है। जात-पांत की संकीर्ण मनोभावना ही इसकी पृष्ठभूमि है। किन्तु किसी जाति के सभी लोग समान आचार-विचार वाले नहीं होते। कोई-कोई ब्राह्मण भी चोरी करते हैं, कई क्षत्रियों के यहाँ भी न जाने कितने अन्याय का अन्न आता है, और दूसरों में भी कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी तरह और कोई किसी तरह अन्न लाता है। जहाँ कहीं भी वह बुरी भावनाओं से लाया और खाया जा रहा है, वह उसी परिवार के विचारों को बर्बाद करता है। दूसरे अज्ञात व्यक्तियों को खाने मात्र से ही पापी या दुराचारी बनाता हो, यह बुद्धिसंगत नहीं है। अगर इस प्रकार से विचार बुरे होने लगें तो धर्मात्मा के घर से ठेका कर लिया जाय। और जैसे मछलियों को राम-नाम की गोलियाँ डाली जाती हैं, उसी प्रकार सब को धर्मात्मा के घर के अन्न की गोलियाँ खिला कर धर्मात्मा बना दिया जाय।

हाँ, अगर कोई साधु जान-बूझ कर चोरी का अन्न खाता है, तो वह गलत चीज है। किन्तु जो उस चोरी के समर्थन में नहीं है, उस पर भी कोई बुरा प्रभाव पड़ता है, यह कोई सिद्धान्त नहीं है।

एक प्रश्न यह भी है कि जो व्यक्ति, समाज को देता तो कम से कम है, और समाज से लेता अधिक से अधिक है, वह चोरी करता है या नहीं ?

प्रश्न ठीक है और इसका उत्तर यही है कि मनुष्य जीवन ऐसा जीवन है कि उसमें कम से कम लिया जाय और अधिक से अधिक दिया जाय।

थोड़ी देर के लिए ऐसे समाज की कल्पना कीजिए, जिस का प्रत्येक व्यक्ति लेना अधिक चाहता हो, परन्तु देना न चाहता हो, क्या ऐसा समाज कभी सुखी और सन्तोषयुक्त बन सकता है ? नहीं, ऐसे समाज में शीघ्र ही असन्तुष्टि की ज्वालाएँ भड़क उठेंगी और प्रत्येक व्यक्ति की सुख-शान्ति खतरे में पड़ जाएगी। इसके विपरीत, जिस समाज के व्यक्ति लेना कम और देना अधिक चाहेंगे, वही समाज सुखी बन सकेगा।

अचौर्यव्रत बहुत महत्त्वपूर्ण है और देश, समाज तथा व्यक्ति के जीवन के उत्थान में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अगर हम अपने जीवन की छोटी-छोटी बातों को भी ध्यान में रक्खें तो मालूम होगा कि यह भी चोरी है और वह भी चोरी है, यहाँ भी चोरी है और वहाँ भी चोरी है। और इस प्रकार सारे राष्ट्र का जीवन चोरी से लथपथ है। यों तो मनुष्य में चोरी की वृत्ति चिरकाल से ही चली आ रही है, परन्तु मेरा ख्याल है, पिछले कुछ वर्षों से यह वृत्ति हमारे देश में बड़ी तेजी के साथ बढ़ी है। चोरी के पिछले कई रूपों को बेहद उत्तेजना मिली है, जैसे रिश्वत खोरी और 'ब्लैक मार्केट' को। खेद की बात तो यह है कि अनेक बड़े-बड़े पूँजीपति इस चौर्यवृत्ति के सबसे अधिक शिकार हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे हैं। मैं इस अवसर पर चेतावनी देता चाहता हूँ कि यह वृत्ति राष्ट्र के लिए कल्याणकारी नहीं है। यह वृत्ति तो हमारे भविष्य का बहुत ही गलत ढंग पर निर्माण कर रही है। इसकी बदौलत देश तबाह हो सकता है और यदि समय रहते सुधार न कर लिया गया तो निश्चय ही निकट-भविष्य में एक भीषण उथलपुथल मचने वाली है, जिसमें हमारी सारी व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ धराशायी हो जाएँगी। राष्ट्र और समाज के कर्णधारों को अविलम्ब इस अचौर्यवृत्ति का उन्मूलन करना होगा, तभी राष्ट्र और समाज का मंगल सम्भव है।

व्यावर, अजेमर
३-११-५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७ परिवर्तन ही जीवन

समाज क्या है ? व्यक्तियों के समूह या उनके पारस्परिक सम्बन्धों को हम समाज कहते हैं। जैसे अंगों और उपांगों से भिन्न शरीर नहीं होता, उसी प्रकार व्यक्ति से भिन्न समाज का भी कहीं स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, सत्ता नहीं है। व्यक्ति ही समाज की आधारशिला है। व्यक्ति के उत्थान-पतन पर ही समाज का उत्थान पतन निर्भर है, क्योंकि एक-एक व्यक्ति के मिलने से परिवार बनता है और परिवारों का समूह आगे चलकर समाज का रूप लेता है। अतः व्यक्ति में ही समाज समाया हुआ है।

पर यह सामूहिक प्रवृत्ति तो पशुओं में भी पायी जाती है। उनके भी अपने दल होते हैं, परिवार होते हैं। तो क्या हम पशु-समूह को भी समाज कहें ? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्वाचार्यों ने मनुष्यों के समूह को तो समाज का रूप दिया है और पशु-समूह को समज कहा है। एक मात्रा का अन्तर होते हुए भी दोनों में महान अन्तर है।

पशु केवल ओघ संज्ञा रखते हैं, उन्हें ज्ञान का प्रकाश नहीं मिला। अतः उनमें सामूहिक उत्थान का संकल्प नहीं है। जो एक-दूसरे का सहयोग देते हुए सामूहिक प्रगति करते हैं, आस-पास की जिन्दगियों को उठाते हुए उनके दुःख-सुख के साझीदार बनते हैं, उनका समूह समाज कहलाता है। क्षुद्र स्वार्थों और अपने आप तक ही सीमित रहने वाले व्यक्तियों का समूह समाज नहीं कहा जा सकता। पशुओं के समूह में से कोई लूला-लंगड़ा पशु पीछे रह जाए, तो वे उसकी परवाह नहीं करते, इसी प्रकार मनुष्य का दल भी अपने पिछड़े हुए साथी की उपेक्षा करके आगे बढ़ जाए तो वह समाज नहीं कहलाएगा। समाज में सहयोग की भावना और सहायता की प्रवृत्ति होती है, एवं जीवन विकास की योजना होती है।

समाज-सुधार :

युग परिवर्तन के साथ समाज में कुछ विकृतियाँ भी आती रहती हैं, उन विकृतियों से समाज को मुक्त करना ही समाज-सुधार है। समाज-सुधार का अर्थ हैं—व्यक्तियों एवं परिवारों में फैले हुए दोषों को दूर करना। पहले व्यक्ति को सुधारना होगा और फिर परिवार को। जब दोनों ही मुक्त हो जाएँगे, तो समाज स्वयमेव सुधर जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पेड़ को हरा-भरा और सजीव बनाने के लिए आपको जड़ों में पानी देना होगा। यदि आप पत्तों पर पानी छिड़क कर पेड़ को हरा-भरा रखना चाहें, तो यह कभी सम्भव नहीं। आज समाज को भी अन्दर से सुधारने की आवश्यकता है, ऊपर से नहीं। अन्दर से सुधारने का अर्थ है—सर्वप्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन की बुराइयों को दूर करना। यदि समाज-सुधारक अपने व्यक्तिगत जीवन में गलत विचारों, गलत मान्यताओं और गलत व्यवहारों को ठुकरा देता है, तो एक दिन वे परिवार में से भी ठुकरा दी जाएँगी और फिर समाज में से भी निकल जाएँगी।

आप समाज की विकृतियों को दोषों के रूप में स्वीकार करते हैं, समाज की कुरूढ़ियों को समाज के लिए राहु के समान समझते हैं और यह भी मानते हैं कि उनसे मुक्ति पाने में ही समाज का कल्याण है, किन्तु आप स्वयं इन कुरूढ़ियों को ठुकराने का साहस नहीं रखते। यदि आप यह सोचते हैं, कि पहले दूसरे व्यक्ति क्रांति करें, तो मैं भी आगे बढ़ूँ, पर अकेला क्या कर सकता हूँ? तो ऐसी दुर्बलता से समाज का कल्याण नहीं हो सकता। समाज-सुधार के लिए सबल मनोवृत्ति और साहस की आवश्यकता है।

वर्तमानकालीन समाज में जो रीति-रिवाज प्रचलित हैं, प्रारम्भ में लोगों ने अवश्य ही इनका विरोध किया होगा और इन्हें अमान्य किया होगा। किन्तु तत्कालीन समाज के दीर्घ द्रष्टा नायकों ने साहस करके इन्हें अपना लिया और फिर धीरे-धीरे ये रीति-रिवाज सर्वमान्य हो गए। उस समय इनकी बड़ी उपयोगिता रही होगी। पर आज युग बदल गया है और समय के साथ ही इन रीति-रिवाजों में भी बहुत विकार आ गए हैं। समाज की परिस्थितियाँ भी अब बदल चुकी हैं और अब ये रीति-रिवाज अनुपयोगी सिद्ध हो चुके हैं। रीति-रिवाजों का यह हार किसी युग में समाज के लिए अलंकार बना हुआ था, वही आज बेड़ी बन गया है। इन बेड़ियों में जकड़ा हुआ समाज आज मुक्ति के लिए छटपटा रहा है। पर जब उनमें परिवर्तन करने की बात आती है, तो लोग कहते हैं कि पहले समाज निर्णय कर ले, फिर हम भी अपना लेंगे।

परिवर्तन ही जीवन है :

कई लोग यह भी कहते हैं कि क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे, जिन्होंने यह रीति-रिवाज चलाए? पूर्वजों के प्रति आस्था अवश्य होनी चाहिए। पर कहने वाले यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जानते, कि उनके पूर्वज-परिस्थिति पूजक नहीं थे। परम्परागत रीति रिवाजों में उन्होंने परिस्थिति के अनुसार सुधार किये थे। यदि आदि-युग के रीति-रिवाजों में परिवर्तन न हुआ होता, और वे अक्षुण्ण बने रहते, तो देश में आज भी वही विवाह-प्रथा प्रचलित होती जो ऋषभ-युग से पूर्व थी। समय के निर्बाध प्रवाह में बहते हुए समाज ने कई करवटें बदली हैं। यह सब परिवर्तन करने वाले आपके पूर्वज ही तो थे। क्योंकि वे जानते थे, कि सामयिक परिवर्तन के बिना समाज नहीं टिक सकता।

आप अपने व्यक्तिगत जीवन को ही लीजिए, उसमें अब तक कितना परिवर्तन आ चुका है। क्या आज आपकी वेश-भूषा वही है, जो आपके पूर्वजों की थी ? आपका आहार-विहार और आपका व्यापार क्या पूर्वजों के समान ही है ? क्या आप अब भी वहीं रहते हैं, जहाँ आपके पूर्वज रहते थे ? यदि इन सब बातों में परिवर्तन कर लेने पर भी आप अपने पूर्वजों की गणना नहीं कर रहे हैं और आस्था बनाए रखते हैं, तो सामाजिक परिवर्तन कर लेने पर वह आस्था क्यों नहीं रहेगी ?

सत्य तो यह है कि यदि आप पूर्वजों के प्रति श्रद्धाशील हैं तो आप भी उनके चरण चिन्हों का अनुसरण कीजिए। जिस प्रकार उन्होंने सामयिक समाज में परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन करके उसे नव-जीवन दिया, उसी प्रकार आपको भी समाज में छाए हुए विकारों को दूर करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देना चाहिए। वह पुत्र किस काम का है, जो अपने पूर्वजों की प्रशंसा के पुल तो बाँधता है, पर जीवन में उनके अच्छे कार्यों का अनुकरण नहीं करता। सपूत तो वही है, जो पूर्वजों की भाँति आगे बढ़कर समाज की कुरीतियों का सुधार करता है। आज सारे देश को इसी मनोवृत्ति ने दबा रखा है, कि दूसरे तैयार करें तो हम भी खा लें, दूसरे सड़क बना दें तो हम भी चल पड़ें और दूसरे वस्त्र निर्माण करें तो हम भी पहन लिया करें। पर वे स्वयं कोई पुरुषार्थ करना नहीं चाहते, जीवन के संघर्षों से टक्कर लेना नहीं चाहते। सभी एक दूसरे का मुँह ताकते हैं, पर आगे बढ़ कर कार्य करते बहुत कम हैं।

समाज-सुधारक का कर्त्तव्य :

समाज-सुधार के लिए नेतृत्व ग्रहण करने वाला व्यक्ति जब त सम्मान पाने और अपमान से बचने का भाव नहीं त्याग देता, तब तक समाज उत्थान के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय के प्रवाह में बहते हुए समाज के जो रिवाज सड़-गल गए हैं, उनके प्रति भी उसे मोह हो गया है। उस सड़े-गले अंग को भी वह अपनी निधि समझ बैठा है। जब कोई चिकित्सक आकर उस सड़े-गले भाग को अलग करना चाहता है, उसकी व्यथा हटाकर उसे नया जीवन देना चाहता है, तो समाज तिलमिला उठता है, वह चिकित्सक को गालियाँ देकर उसका अपमान करता है। उस समय समाज सेवक का क्या कर्त्तव्य है? उसे यह नहीं सोचना चाहिए, कि मैं जिसकी भलाई कर रहा हूँ, वही मुझे अपमान का उपहार दे रहा है, तो मैं इन व्यर्थ की झंझटों में क्यों उलझूँ? समाज में जागृति और क्रान्ति लानी है तो अपमान की चोंट सहनी पड़ेगी, सम्मान की ओर से पीठ फेर कर चलना होगा और ईसा की भाँति शूली पर चढ़ना होगा, तभी वह समाज का नवनिर्माण कर सकेगा।

एक कलाकार लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा लेकर अपने अंतस्थल की भावना के अनुरूप शीघ्र ही उसे मूर्त रूप दे सकता है, दीवारों पर चित्र बना सकता है और वस्तुओं में सहज ही सुधार कर सकता है, क्योंकि यह सब वस्तुएँ निर्जीव होने से कर्त्ता का विरोध नहीं करतीं। पर समाज निर्जीव नहीं है और उसमें पुरानी चीजों के प्रति मोह भी है। जब कोई समाज-सुधारक उसे सुन्दर रूप में बदलना चाहता है, तो समाज काठ की भाँति चुपचाप नहीं बैठेगा, किन्तु डटकर सुधारक का सामना करेगा, विरोध करेगा।

डाक्टर जब बच्चे के फोड़े का आपरेशन करता है तो बालक डाक्टर को गालियाँ देता है और रो-पीटकर विरोध में अपनी सारी शक्ति खर्च कर देता है। परन्तु डाक्टर बच्चे पर क्रोध नहीं करता और मुस्कराता हुआ अपना काम करता चला जाता है। बच्चे को जब आराम हो जाता है तो वह अपनी नादानी पर पाश्चाताप करता है। इसी प्रकार समाज की बुराई के मवाद को निकालते समय समाज भी सुधारक को भला-बुरा कहता है, किन्तु सुधारक शांत भाव से उस हलाहल विष को भी अमृत के रूप में ग्रहण करते हुए आगे बढ़ता रहता है।

भगवान् महावीर के युग में यज्ञों के नाम पर लाखों पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी। उस समय राजा लोग प्रजा पर शासन करते थे और राजाओं पर ब्राह्मणों का शासन था। इस प्रकार समाज की बागडोर ब्राह्मणों के हाथों में थी। भगवान् महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने जब हिंसात्मक यज्ञों का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया तो ब्राह्मणों ने कितने तिरस्कारपूर्ण शब्दों की भेंट चढ़ाई होगी ? भगवान महावीर ने जाति-पाँति के बंधनों के विरुद्ध भी सिंहनाद किया। लोग इस नयी बात को सुनकर चिल्ला उठे, पर उन्होंने कोई परवाह नहीं की और कहा–

"मनुष्य जातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा"

महिला समाज के उत्थान का प्रश्न आया, तो वहाँ भी उन पर समाज को भंग करने का दोषारोपण किया गया। किन्तु विरोध की तनिक भी परवाह न करते हुए उस क्रान्तिकारी ने नारी जाति को भी पुरुष वर्ग की भाँति ही समान अधिकार प्राप्त कराए।

समाज-सुधारक का मार्ग फूलों का नहीं, काँटों का मार्ग है, उसे कदम-कदम पर निन्दा का जहर पीकर शान्त भाव से चलना पड़ता है। समाज सुधारक को आज का समाज गालियाँ देगा, किन्तु भविष्य का समाज 'युग-निर्माता' के रूप में युग-युग तक उसे स्मरण करता रहेगा। आज का समाज उसके पथ पर काँटे बिखेरेगा, किन्तु भविष्य का समाज उसे श्रद्धांजलियाँ समर्पित करेगा। नयी जागृति और साहस की भावना को लेकर वह अपने पथ पर अग्रसर होता रहे, भविष्य उसका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८ अस्तेय और भ्रष्टाचार

भारत की वर्तमान स्थिति-परिस्थिति पर अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए मुझसे कहा गया है। वर्तमान दर्शन के साथ ही अतीत और भविष्य के चित्र भी मेरी कल्पना के आँखों के समक्ष उभर कर आ जाते हैं। इन चित्रों को वर्तमान के साथ सम्बद्ध किए बिना वर्तमान-दर्शन अधूरा रहेगा, भूत और भावी फ्रेम में मढ़कर ही वर्तमान के चित्र को सम्पूर्ण रूप से देखा जा सकता है।

स्वर्णिम चित्र :

अध्ययन और अनुभव की आँखों से जब हम प्राचीन भारत की ओर देखते हैं, तो एक गरिमा-मंडित स्वर्णिम चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। उस चित्र की स्वर्ण रेखाएँ पुराणों और स्मृतियों के पटल पर अंकित हैं, रामायण और महाभारत काल की तूलिका से संजोई हुई हैं। जैन आगमों और अन्य साहित्य में छविमान हैं। बौद्ध त्रिपिटकों में भी उसकी स्वर्ण आभा यत्र-तत्र बिखरी हुई है। भारत के अतीत का वह गौरव केवल भारत के लिए ही नहीं, किन्तु समग्र विश्व के लिए एक जीवन्त आदर्श था। अपने उज्ज्वल चरित्र और तेजस्वी चिंतन से उसने एक दिन सम्पूर्ण संसार को प्रभावित किया था। उसी व्यापक प्रभाव का चित्र मनु की वाणी से ध्वनित हुआ था–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

"इस देश में जन्म लेने वाले चरित्र-सम्पन्न विद्वानों से भूमण्डल के समस्त मानव अपने-अपने चरित्र-कर्त्तव्य की शिक्षा ले सकते हैं।" मनु की यह उक्त कोई गर्वोक्ति नहीं, किन्तु उस युग की भारतीय स्थिति का एक यथार्थ चित्रण है; सही मूल्यांकन है। भारतीय जनता के निर्मल एवं उज्ज्वल चरित्र के प्रति श्रद्धावनत होकर यही बात पुराणकार महर्षि व्यास देव ने इन शब्दों में दुहराई थी–

गायन्ति देवा : किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारत-भूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्ग-भूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर्ग के देवता भी भारत भूमि के गौरव-गीत गाते रहते हैं, कि वे देव धन्य हैं, जो यहाँ से मरकर पुनः स्वर्ग और अपवर्ग मोक्ष के मार्ग स्वरूप पवित्र भारत भूमि में जन्म लेते हैं।

भगवान् महावीर के ये वचन कि 'देवता भी भारत जैसे आर्य देश में जन्म लेने के लिए तरसते हैं' जब स्मृति में आते हैं तब सोचता हूँ, ये जो बातें कही गई हैं मात्र आलंकारिक नहीं हैं, कवि की कल्पनाजन्य उड़ानें नहीं हैं; किन्तु दार्शनिकों और चिन्तकों की साक्षात् अनुभूति का स्पष्ट जयघोष है।

इतिहास के उन पन्नों को उलटते ही एक विराट् जीवन दर्शन हमारे सामने आता है। त्याग, स्नेह और सद्भाव की वह सुन्दर तस्वीर खिंच जाती है, जिसके प्रत्येक रंग में एक आदर्श, प्रेरणा और विराट्ता की मोहक छटा भरी हुई है। त्याग और सेवा की अखण्ड ज्योति जलती हुई प्रतीत होती है।

रामायण में राम का जो चरित्र उपस्थित किया गया है, वह भारत की आध्यात्मिक और नैतिक चेतना का सच्चा प्रतिबिम्ब है। राम को जब अभिषेक की सूचना मिलती है, तब उनके चेहरे पर कोई विशेष उल्लास नहीं चमकता है, और वनवास की खबर मिलने पर कोई शिकन भी नहीं पड़ती है।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः
तथा न मम्ले वनवास-दुःखत :।

राम की यह कितनी ऊँची स्थितप्रज्ञता है, कितनी महानता है, कि जिसके सामने राज्यसिंहासन का न्याय प्राप्त अधिकार कोई महत्त्व नहीं रखता। जिसके लिए जीवन की भौतिक सुख सुविधा से भी अधिक मूल्यवान है, पिता की आज्ञा, विमाता की आत्म-तुष्टि। यह आदर्श एक व्यक्ति विशेष का ही गुण नहीं, किन्तु समूचे भारतीय जीवन पर छाया हुआ है। राम तो राम हैं ही किन्तु लक्ष्मण भी कुछ कम नहीं हैं। लक्ष्मण जब राम के वनवास की सूचना पाते हैं, तब वे उसी क्षण महल से निकल पड़ते हैं। सुन्दरियों का स्नेह उन्हें रोक नहीं सका, राजमहलों का वैभव और सुख राम के साथ वन में जाने के निश्चय को बदल नहीं सका। वे माता सुमित्रा के पास आकर राम के साथ वन में जाने की अनुमति माँगते हैं। और माता का भी कितना विराट् हृदय है, जो अपने प्रिय पुत्र को वन-वन में भटकने से रोकती नहीं अपितु कहती है—राम के साथ वनवास की तैयारी करने में तूमने इतना विलम्ब क्यों किया ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"रामं दशरथं विद्धि, मां, विद्धि जनकात्मजाम्,
अयोध्या मटवीं विद्धि, गच्छ तात ! यथासुखम् ।"

हे वत्स ! राम को दशरथ की तरह मानना, सीता को मेरे समान समझना और वन को अयोध्या मानना। राम के साथ वन में जा, देख राम की छाया से कभी दूर मत होना।

यह भारतीय जीवन का आदर्श है, जो प्रत्येक भारतीय आत्मा में छलकता हुआ दिखाई देता है। यहाँ अधिकारों को ठुकराया जाता है, स्नेह और ममता के बंधन भी कर्त्तव्य की धार से काट दिए जाते हैं और एक दूसरे के लिए समर्पित हो जाते हैं।

महावीर और बुद्ध का युग देखिये, तब तरुण महावीर और बुद्ध विशाल राज वैभव, सुन्दरी का मधुर स्नेह और जीवन की समस्त भौतिक सुविधाओं को ठुकराकर सत्य की खोज में शून्य वनों एवं दुर्गम-पर्वतों में तपस्या करते घूमते हैं और सत्य की उपलब्धि कर उसे समग्र जनजीवन में प्रसारित करने में लग जाते हैं, और उनके पीछे सैकड़ों-हजारों राजकुमार, सामन्त और सामान्य नागरिक श्रमण भिक्षुक बनकर प्रेम और करुणा की अलख जगाते हुए सम्पूर्ण विश्व को प्रेम का संदेश देते हैं। वे प्रकाश बनकर स्वयं जलते हैं और घर-घर में, दर-दर में उजाला फैलाते हैं।

अध्ययन की आँखों से जब हम इस उज्ज्वल अतीत को देखते हैं, तब मन श्रद्धा से भर जाता है। भारत के उन आदर्श पुरुषों के प्रति कृतज्ञता से मस्तक झुक जाता है, जिन्होंने स्वयं अमृत प्राप्त किया, और जो भी मिला उसे अमृत बाँटते चले गए।

क्या यह वही भारत है ?

अतीत के इस स्वर्णिम चित्र के समझ जब हम वर्तमान भारतीय जीवन का चित्र देखते हैं, तब मन सहसा विश्वास नहीं कर पाता, कि क्या यह उसी भारत का चित्र है? कहीं हम धोखा तो नहीं खा रहे हैं ? लगता है, इतिहास का वह साक्षात् घटित सत्य आज नाटकों की गाथा बन कर रह गया है।

आज का मनुष्य पतंगे की तरह दिशा-हीन हुआ उड़ता जा रहा है। जिसे रुकने की फुर्सत नहीं है, और सामने कोई मंजिल नहीं है। अपने क्षुद्र स्वार्थ, दैहिक भोग और हीन ग्रन्थियों से वह इस प्रकार ग्रस्त हो गया है, कि उसकी विराटता, उसके अतीत आदर्श, उसकी अखण्ड राष्ट्रीय भावना सब कुछ छुईमुई हो गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय चिंतन ने मनुष्य के जिस विराट् रूप की परिकल्पना की थी **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्ष : सहस्रपात्'** वह आज कहाँ है ?

हजारों-हजार मस्तक, हजारों-हजार आँखें और हजारों-हजार चरण मिलकर जिस अखण्ड मानवता का निर्माण करते थे, जिस अखण्ड राष्ट्रीय चेतना का विकास होता था, आज उसके दर्शन कहाँ हो रहे हैं ? आज की संकीर्ण मनोवृत्तियाँ देखकर मन कुलबुला उठता है, कि क्या वास्तव में ही मानव इतना क्षुद्र और इतना दीन-हीन होता जा रहा है, कि अपने क्षुद्र स्वार्थों और अपने कर्त्तव्यों के आगे पूर्ण विराम लगाकर बैठ गया है। आपसे आगे आपके पड़ोसी का भी कुछ स्वार्थ है, कुछ हित है। समाज, देश और राष्ट्र के लिए भी आपका कोई कर्त्तव्य होता है, इसके लिए भी सोचिए। चिन्तन के द्वार खुले रखिए। आपका चिन्तन, आपका कर्त्तव्य, आपका हित आपके लिए केवल बीच के अल्पविराम से अधिक नहीं है, अगर आप उसे ही पूर्ण विराम समझ बैठे हैं, इति लगा बैठे हैं, तो यह भयानक भूल है। भारत का दर्शन 'नेति नेति' कहता आया है। इसका अर्थ है, कि जितना आप सोचते हैं, और जितना आप करते हैं, उतना ही सब कुछ नहीं है, उससे आगे भी अनन्त सत्य है, कर्त्तव्य के अनन्त क्षेत्र पड़े हैं। मगर आज हम यह संदेश भूलते जा रहे हैं और हर चिन्तन और कर्त्तव्य के आगे "इति-इति" लगाते जा रहे हैं। यह क्षुद्रता यह, बौनापन आज राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा संकट है।

भ्रष्टाचार किस संस्कृति की उपज है :

मैं देखता हूँ—आजकल कुछ शब्द चल पड़े हैं—"भ्रष्टाचार, बेईमानी, मक्कारी, कालाबाजारी, यह सब क्या है ? किस संस्कृति की उपज है यह ? जिस अमृत कुण्ड की जलधारा से सिंचन पाकर हमारी चेतना और हमारा कर्त्तव्य क्षेत्र उर्वर बना हुआ था, क्या आज वह धारा सूख गई है, ? त्याग, सेवा, सौहार्द और समर्पण की फसल जहाँ लहलहाती थी, क्या आज वहाँ स्वार्थ, तोड़-फोड़, हिंसा और बात-बात पर विद्रोह की कँटीली झाड़ियाँ ही खड़ी रह गई हैं ? देश में आज बिखराव और अराजकता की भावना फैल रही है, इसका कारण क्या है ?

मैं जहाँ तक समझ पाया हूँ इन सब अव्यवस्थाओं और समस्याओं का मूल है—हमारी आदर्श-हीनता। मुद्रा के अवमूल्यन से आर्थिक क्षेत्र में जो उथल-पुथल हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उससे भी बड़ी और भयानक उथल-पुथल हुई हैं, आदर्शों के अवमूल्यन से जीवन के क्षेत्र में। हम अपने आदर्शों से गिर गए हैं, जीवन का मूल्य विघटित हो गया है, राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर के आदर्शों का भी हमने अवमूल्यन कर डाला है। बस इस अवमूल्यन से ही यह गड़बड़ हुई है, यह अव्यवस्था पैदा हुई है।

क्या मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी है ?

एक बार एक सज्जन से चर्चा चल रही थी। हर बात में वे अपना तकिया कलाम दुहराते जाते थे 'महाराज ! क्या करें, मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी है।' इसके बाद अन्यत्र भी यह दुर्वाक्य कितनी ही बार सुनने में आया है। मैं समझ नहीं पाया, क्या मतलब हुआ इसका ? क्या महात्मा गाँधी एक मजबूरी की उपज थे ? गाँधी का दर्शन, जो प्राचीन भारतीय दर्शन का आधुनिक नव स्फूर्त संस्करण माना जाता है, क्या कोई मजबूरी का दर्शन है ? भारत की स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले सत्याग्रह, असहयोग, स्वदेशी आन्दोलन तथा अहिंसा और सत्य के प्रयोग क्या केवल दुर्बलता थी, मजबूरी थी, लाचारी थी ? कोई महान् एवं उदात्त जैसा कुछ नहीं था ? क्या गाँधीजी की तरह ही महावीर और बुद्ध का त्याग भी एक मजबूरी थी ? और, राम का वनवास भी आखिर किस मजबूरी का समाधान था। वस्तुतः यह मजबूरी हमारे प्राचीन आदर्शों की नहीं, अपितु हमारे वर्तमान स्वार्थ-प्रधान चिन्तन की है, जो आदर्शों के अवमूल्यन से पैदा हुई है।

मनुष्य झूठ बोलता है, बेईमानी करता है, और जब उससे कहा जाता है, कि ऐसा क्यों करते हो तब उत्तर मिलता है, क्या करें, मजबूरी है। पेट के लिए यह सब कुछ करना पड़ता है। अभाव ने सब चौपट कर रखा है। मैं सोचता हूँ, यह मजबूरी, यह पेट और अभाव क्या इतना विराट हो गया है कि मनुष्य की सहज अन्तश्चेतना को भी निगल जाए ? महापुरुषों के प्राचीन आदर्शों को यों डकार जाए ? मेरे विचार से मजबूरी और अभाव उतना नहीं है, जितना महसूस किया जा रहा है। अभाव में पीड़ा का रूप उतना नहीं है, जितना स्वार्थ के लिए की जाने वाली बहाने बाजी है।

इतने असहिष्णु क्यों हो गये ?

मैं इस सत्य से इन्कार नहीं कर सकता, कि देश में आज कुछ हद तक अभावों की स्थिति है। किन्तु उन अभावों के प्रति हम में सहिष्णुता का एवं उनके प्रतिकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए उचित संघर्ष का अभाव भी तो एक बहुत बड़ा अभाव है। पीड़ा और कष्ट कहने के लिए नहीं, सहने के लिए आते हैं। किसी बात को लेकर थोड़ा-सा भी असंतोष हुआ कि बस तोड़-फोड़ पर उतारू हो गए। सड़कों पर भीड़ इकट्ठी हो गई, राष्ट्र की सम्पत्ति की होली करने लगे पुतले जलाने लगे—यह सब क्या है? क्या इन तरीकों से अभावों की पूर्ति की जा सकती है? सड़कों पर अभावपूर्ति के फैसले किए जा सकते हैं? ये हमारी पाशविक वृत्तियाँ हैं, जो असहिष्णुता से जन्म लेती हैं, अविवेक से भड़कती हैं, और फिर हम उद्दाम होकर विनाश-लीला करके नाच उठते हैं। मैं यह समझ नहीं पाया, कि जो सम्पत्ति जलाई जाती है, वह आखिर किसकी है? राष्ट्र की है न, यह विद्रोह किसके साथ किया जा रहा है? अपने ही शरीर को नोच कर क्या अपनी खुजली मिटाना चाहते हैं? यह तो निरी बेवकूफी है। इससे समस्या सुलझ नहीं सकती, असंतोष मिट नहीं सकता और न अभाव एवं अभाव-जन्य आक्रोश दूर किया जा सकता है। अभाव और मजबूरी का इलाज सहिष्णुता है। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए किए जाने वाले श्रम में योगदान है। असंतोष का समाधान धैर्य है, और है, उचित पुरुषार्थ। आप तो अधीर हो रहे हैं, इतने निष्क्रिय एवं असहिष्णु हो रहे हैं, कि कुछ भी बर्दाश्त नहीं कर सकते। यह असहिष्णुता, यह अधैर्य इतना व्यापक क्यों हो गया है?

राष्ट्रीय स्वाभिमान की कमी :

आज मनुष्य में राष्ट्रीय स्वाभिमान की कमी हो रही है। राष्ट्रीय चेतना लुप्त हो रही है। अपने छोटे-से घोंसले के बाहर देखने की व्यापक दृष्टि समाप्त हो रही है। जब तक राष्ट्रीय-स्वाभिमान जागृत नहीं होता, तब तक कुछ भी सुधार नहीं होगा। घर में, दुकान में या दफ्तर में कहीं भी आप बैठें, मगर राष्ट्रीय स्वाभिमान के साथ बैठे रहिए। अपने हर कार्य को अपने क्षुद्र हित की दृष्टि से नहीं, राष्ट्र के गौरव की दृष्टि से देखने का प्रयत्न कीजिए। आपके अन्दर और आपके पड़ोसी के अन्दर जब एक ही प्रकार की राष्ट्रीय चेतना जागृत होगी, तब एक समान अनुभूति होगी, और आपके भीतर राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग उठेगा।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में समूचे राष्ट्र में अखण्ड राष्ट्रीय चेतना का एक प्रवाह उमड़ा था। एक लहर उठी थी, जो पूर्व से पश्चिम तक को, उत्तर से दक्षिण तक को एक साथ आन्दोलित कर रही थी। स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास पढ़ने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानते हैं कि उन दिनों किस प्रकार हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई की तरह मातृभूमि के लिए जीवन दे रहे थे। उत्तर और दक्षिण मिटकर एक अखण्ड भारत हो रहा था। सब लोग एक साथ यातनाएँ झेलते थे, और अपने सुख-दुःख को राष्ट्रीय सुख-दुःख के साथ किस प्रकार एकाकार करके चल रहे थे। राष्ट्र के लिए अपमान, संकट, यंत्रणा और फाँसी के फंदे को भी हँसते-हँसते चूम लेते थे। मैं पूछता हूँ कि क्या आज वैसी यातना और यंत्रणा के प्रसंग आपके सामने हैं ? नहीं। बिल्कुल नहीं। जो हैं वे नगण्य और बहुत ही साधारण हैं ! फिर क्या बात हुई, कि जो व्यक्ति जेलों के सीखचों में भी हँसते रहते थे, वे आज अपने घरों में भी असंतुष्ट दीन-हीन, निराश और आक्रोश से भरे हुए हैं। असहिष्णुता की आग से जल रहे हैं ! क्या कारण है, कि जो राष्ट्र एकजुट होकर एक शक्ति-सम्पन्न विदेशी हुकुमत से अहिंसक लड़ाई लड़ सकता है, वह जीवन के साधारण प्रश्नों पर इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े होता जा रहा है ? रोता-विलखता जा रहा है। मेरी समझ में एक मात्र मुख्य कारण यही है कि आज भारतीय प्रजा में राष्ट्रीय स्वाभिमान् एवं राष्ट्रीय चेतना का अभाव हो गया है ? देश के नव-निर्माण के लिए समूचे राष्ट्र में वह पहले-सा संकल्प यदि पुनः जागृत हो उठे, वह राष्ट्रीय चेतना यदि राष्ट्र के मूर्च्छित हृदयों को पुनः प्रबुद्ध कर सके, तो फिर मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी नहीं, किन्तु आदर्शों का नाम महात्मा गाँधी होगा, फिर झोंपड़ी में भी मुस्कराते चेहरे मिलेंगे, अभावों की पीड़ा में भी श्रम की स्फूर्ति चमकती मिलेगी। आज जो व्यक्ति अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को स्वयं स्वीकार न करके फुटबाल की तरह दूसरों की ओर फेंक रहा है, वह फूलमाला की तरह हर्षोल्लास के साथ उनको अपने गले में डालेगा और अपने कर्त्तव्यों के प्रति प्रतिपद एवं प्रतिपल सचेष्ट होगा।

आशापूर्ण भविष्य :

मैं जीवन में निराशावादी नहीं हूँ। भारत के सुनहरे अतीत की भाँति सुनहरे भविष्य की तस्वीर भी मैं अपनी कल्पना की आँखों से देख रहा हूँ। देश में आज जो अनुशासनहीनता और विघटन की स्थिति पैदा हो गई है, आदर्शों के अवमूल्यन से मानव गड़बड़ा गया है, वह स्थिति बदलेगी। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए संक्रान्ति काल में प्रायः अंधकार के कुछ क्षण आते हैं, अभाव के प्रसंग आते हैं, परन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये क्षण एवं प्रसंग स्थायी नहीं रहते। भारत में वह समय आएगा ही, जब राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद गूँजेगा, व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर राष्ट्र का गौरव जगेगा, राष्ट्रीय स्वाभिमान प्रदीप्त होगा। और, यह राष्ट्र जिस प्रकार अपने अतीत में गौरव-गरिमा से मंडित रहा है, उसी प्रकार अपने भविष्य को भी गौरवोज्ज्वल बनाएगा। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब आपके अन्तर में अखण्ड राष्ट्रीय चेतना जागृत होगी, कर्त्तव्य की हुंकार उठेगी, परस्पर सहयोग एवं सद्भाव की ज्योति प्रकाशमान होगी।

गंगाधर शास्त्री भवन
आगरा कॉलेज
मार्च, १९६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९ गाँधीजी का रामराज्य

रामराज्य की परिकल्पना के सम्बन्ध में चल रही, विचार परिचर्चा को श्री अक्षय जी ने काफी आगे तक बढ़ा दिया है। आज के विषय में जो कहना चाहिए था, वह काफी कुछ कह दिया गया है, अब मैं उस विचार अंक के आगे कोई अंक रखना नहीं चाहता, सिर्फ एक बिन्दु रख देना चाहता हूँ। आप समझते हैं, एक बिन्दु रख देने से संख्या कितनी आगे बढ़ जाती है।

बात यह है, कि 'रामराज्य' की चर्चा करके हमने एक ऐसा प्रश्न सामने रख दिया है, जिसकी कल्पना अनन्त अतीत के साथ चलती आयी है, वर्तमान में भी चल रही है, और कह नहीं सकते कब तक चलती रहेगी, पर, उसकी कोई एक ऐकान्तिक परिभाषा आज तक नहीं लिखी जा सकी। न स्वयं प्राचीन ऋषिमुनि लिख पाए, न गाँधीजी ही लिख सके। प्रत्येक युग में उसकी परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न होती रही हैं परिस्थितियों के सन्दर्भ में रामराज्य की परिकल्पना भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही है। बदलना, बदलना और फ़िर बदलना-विश्वचक्र का यही क्रम रहा है, और रहेगा।

रामराज्य और स्वराज्य :

मैं समझता हूँ, गाँधीजी के 'राम राज्य' का अर्थ केवल स्वराज्य नहीं था, अपितु सुराज्य था। रामराज्य का स्वरूप बहुत विराट्, बहुत व्यापक है। राम राज्य के माने है, भारतीय संस्कृति का उज्ज्वलतम चित्र ! वह पूरे भारत के चिन्तन और गौरव का प्रतीकार्थ है। रामराज्य एक वह स्थिति है—जो अणु से लेकर विराट् तक को परिव्याप्त किए हुए है। उपनिषद् के शब्दों में—**"अणोरणीयन् महतो महीयान्"** का रूप रामराज्य की कल्पना में छिपा है।

मैंने कहा—रामराज्य का अर्थ स्वराज्य मात्र नहीं है, स्वराज्य तो एक पहली भूमिका है। आज का स्वराज्य तो उस भूमिका से बहुत नीचे हैं। स्वराज्य का अर्थ है, जनता अपने को राज्य से अलग नहीं समझे। शासन-सूत्र के साथ एकत्व की अनुभूति करे, शासन, शासक और शासित तीनों के बीच आत्मीयता की एक कड़ी जुड़ी रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वराज्य में वर्ग होते हैं, भेद भी होते हैं, वर्ग और सीमाएँ समाप्त नहीं होतीं, किन्तु जनता उन वर्गों में रहकर भी वर्ग-भेद अनुभव नहीं करती, बँटी नहीं होती। जिस प्रकार आम के एक महावृक्ष की टहनियाँ पत्ते, फूल, फल आदि का वर्ण व रूप भिन्न-भिन्न होते हुए भी आम्रत्व सबके भीतर एक समान परिव्याप्त रहता है। उसी प्रकार हम सब जो प्रान्त, भाषा आदि के रंग-रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु राष्ट्रीय भाव का अखण्ड आम्रत्व सबके भीतर परिव्याप्त होना चाहिए। एक राष्ट्रीय चेतना की विराट् अनुभूति ही स्वराज्य की मूल भूमिका है।

स्वार्थ और परमार्थ :

मैं स्वार्थ और परमार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं समझता। एक व्यक्ति का सीमित हित, एक व्यक्ति की सीमित आकांक्षा और सबका हित, सबकी आकांक्षा परमार्थ है। एक का स्वार्थ जब सबके लिए समर्पित होता है, राष्ट्रीय भाव से ओत-प्रोत होता है, उसके भीतर विराट मानवीय चेतना जागृत होती है तो, वह स्वार्थ निश्चित ही परमार्थ हो जाता है। दर्शन की भाषा में कहा जाए तो एक के स्वार्थ में सबका स्वार्थ और सबके स्वार्थ में एक का स्वार्थ जब अन्योन्याश्रित रूप से समाहित होता है, तब वही परमार्थ हो जाता है।

स्वराज्य से सुराज्य की भूमिका स्वार्थ को परमार्थ में बदलने की भूमिका है। व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए झगड़ना और उनको सर्वोपरि महत्त्व देना स्व-राज्य और सुराज्य दोनों के लिए घातक है। मेरे विचार में रामराज्य की कल्पना साकार करने के लिए स्व-राज्य के साथ सुराज्य की कल्पना को पहले साकार करना होगा। और वह व्यक्तिगत हितों, स्वार्थों और आकांक्षाओं का बलिदान किए बिना कदापि सम्भव नहीं है।

रामराज्य का चित्र :

मैंने बताया आपसे कि रामराज्य की एक परिभाषा कभी नहीं बन सकी। प्रत्येक युग में इस कल्पना का रूप कुछ बदलता-सा रहा है। फिर भी मूलभूत बात एक ही है, वह यह कि राष्ट्र का जीवन निर्मल हो, स्वच्छ हो। समाज का चरित्र ऊँचा हो, व्यक्ति-व्यक्ति मानवता के भव्य शिखरों पर विचरण करें, समष्टि के व्यापक हित में चिन्तन हो, चिन्तन के साथ कर्म हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छान्दोग्य उपनिषद् में एक संवाद आता है। कुछ ऋषि एक देश की सीमा से होकर सीधे आगे निकल जाते हैं। उस देश के राजा को जब मालूम होता है, कि वे हमारे जनपद से बाहर-बाहर चले जा रहे हैं, तब राजा आकर ऋषियों से प्रार्थना करता हैं–"मेरे जनपद में ऐसा क्या दोष है ? क्या बुराई है ? कि आप उसे यों छोड़कर सीधे-ही बाहर चले जा रहे हैं ?" राजा ने अपने देश का भव्य चित्र उपस्थित किया–

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न मद्यप : ।
नानाहिताग्निर्ना विद्वान न स्वैरी स्वैरिणी कुत : ?

मेरे देश में कोई चोर-उच्चके नहीं रहते। कृपण और कंजूस भी नहीं रहते जो कि देश के कलंक होते हैं, और जो समृद्धि को बटोर कर उस पर साँप बने बैठे रहते हैं; मेरे जनपद में नहीं हैं। श्रीमान् अपनी समृद्धि का देश के हित में नियोजन करने वाले हैं। कोई शराबी, और दुराचारी नहीं है। असंस्कारी मूर्ख और अनपढ़ लोग भी नहीं हैं। स्वेच्छाचारिता और उच्छृखलता भी मेरे जनपद में नहीं है, तब फिर क्या कारण है, कि आप उसे यों ही छोड़कर आगे चले जा रहे हैं।"

मैं समझता हूँ, राजा ने अपने राष्ट्र का एक सच्चा प्रतिबिम्ब ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत किया है। रामराज्य का कोई रूप हो सकता है, तो यह एक रूप है। आदर्श राज्य की यह एक परिभाषा है। जिस देश में चोर और तस्कर नहीं, जनता श्रम करके धनोपार्जन जरूर करती हो, किन्तु उस धन और समृद्धि का उपयोग अपने स्वार्थ और सुख चैन के लिए नहीं, किन्तु राष्ट्र के समृद्धि के लिए करती हो, वह देश कितना महान् हो सकता है ! जैसा कि अक्षय जी ने कहा–अमेरिका और रूस की जनता में एक राष्ट्रीय सभ्यता का रूप मिलता है, वह रूप उस सम्राट के शब्दों में भी आया है–"नानाहिताग्निर्नाविद्वान्' कोई भी असंस्कारी, असभ्य और मूर्ख नहीं है। अनुशासनहीनता की कोई शिकायत जिस देश में नहीं होती हो, वह देश कितना आदर्श देश हो सकता है, आप कल्पना कीजिए। मेरे विचार में यह एक आदर्श राष्ट्र का चित्र है और वह रामराज्य का एक सुन्दर प्रतीक भी है।

कर्म और श्रम :

गाँधीजी के रामराज्य का स्वप्न क्या था, वे जीवित रहते तो उसे क्या रूप देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस सम्बन्ध में आज कोई क्या कह सकता है, किन्तु यह निश्चित है, कि उनके चिन्तन में भारतीय संस्कृति और परम्परा के ही परमाणु घुले-मिले थे। भारतीय संस्कृति का चिन्तन ही उनमें व्याप्त था। भारतीय संस्कृति और परम्परा के चिन्तन की उपज ही 'गाँधीजी थे' यह कहना चाहिए। तो फिर मानना चाहिए, कि भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही उनकी कल्पना और उनके स्वप्न होते, और उस स्वप्न का ही एक चित्र उक्त आदर्श राष्ट्र की कल्पना में झलक रहा है।

जैसा कि अक्षय जी ने कहा है—"देश में भौतिक समृद्धि निरन्तर बढ़ रही है। यह ठीक है, किन्तु उसके साथ तृष्णा एवं आकांक्षाएँ भी बढ़ती रही हैं, और साथ ही कर्म और श्रम में निष्ठा कम होती जा रही है।

आवश्यकता और इच्छा दो अलग-अलग चीज हैं। आवश्यकता जीवन की मूलभूत अनिवार्यता है, जीवन जीने के लिए उसकी पूर्ति होनी ही चाहिए। किन्तु आवश्यकता के साथ असीम इच्छाएँ जब जुड़ जाती हैं, तो एक समस्या खड़ी हो जाती है। आज आवश्यकता के नाम पर इच्छाओं की सुरसा मुँह फैला रही है और इस जीवन के हनुमान को निगल जाना चाहती है। रामायण में बताया है—जब सुरसा अपना मुँह फैलाती गई और हनुमान भी अपने आपको फैलाते गये, तो दोनों में होड़ लग गई। समस्या सुलझी नहीं, किन्तु जब हनुमान ने सूक्ष्म रूप बनाया तब तुरन्त उसके मुँह से पार हो गए।

इच्छाओं की सुरसा के सामने जीवन को फैलाते गए, तो कभी भी समस्या नहीं सुलझेगी। जीवन को सूक्ष्म बनाना होगा, हमें सिमटना होगा, तभी इच्छाओं के द्वन्द्व से पार हो सकेंगे।

यह ठीक है कि जीवन की आवश्यकताएँ आज पहले से अधिक बढ़ गई हैं। किसी रूप में यह प्रगति का सूचक भी माना जा सकता है, किन्तु आवश्यकता तो बढ़ती हैं, मगर उसकी पूर्ति करने के लिए उचित श्रम और कर्म नहीं बढ़ता है, तो आवश्यकता समस्या बन जाती है। आवश्यकता और कर्म में संतुलन होना चाहिए। इस असंतुलन का ही परिणाम आज लूट-खसोट, भ्रष्टाचार, रिश्वत और मुनाफाखोरी के रूप में जीवन का सरदर्द बन रहा है। यदि आवश्यकता के साथ कर्म बढ़ता रहे, श्रम निष्ठा जगती रहे, तो शायद यह समस्या पैदा ही नहीं होगी, कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनसंख्या और बढ़ती गई तो क्या खिलाएंगे ? उचित कर्म और श्रम राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाता जाता है, जीवन में सुख का द्वार खोलता जाता है। ऋग्वेद के ऋषि ने तो श्रम और कर्म के प्रतीक हाथ को ही भगवान् के रूप में देखा है।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तर : ।
अयं मे विश्वभेषजो ऽयं शिवाभिमर्शन : ॥

यह मेरा हाथ ही भगवान् है, भाग्य का निर्माता है और भगवान् ही क्या, भगवान् से भी श्रेष्ठ है। यह हाथ ही विश्व के समस्त रोगों की औषधि है, इसके स्पर्श मात्र से सृष्टि के सब संकट दूर होकर कल्याण का द्वार खुल जाता है।

मैं देखता हूँ, आज जनता में श्रम-निष्ठा की कमी होती जा रही है, कर्म करने की वृत्ति दुर्बल होती जा रही है, और साथ ही आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़ रही हैं। जीवन का स्तर बढ़ रहा है। इच्छाएँ प्रतिस्पर्धा का रूप ले रही है।

इच्छा अहंकार का रूप :

मैंने बताया आपसे, कि इच्छा और आवश्यकता में अन्तर करना होगा। भूख लगती है, तो उसे शान्त करने के लिए रोटी चाहिए, वह रोटी चाहे पत्तल में मिले या थाली में। हमें तो भूख शान्त करनी है। मगर जब प्रश्न रोटी का नहीं, किन्तु थाली का अड़ जाता है, थाली पीतल की चाहिए, या चाँदी की चाहिए। यहाँ क्षुधा पूर्ति का प्रश्न नहीं रहता, किन्तु अहंकारपूर्ति का प्रश्न आ जाता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को यह अहंकार का प्रश्न ही परेशान करता है। व्यक्ति के अन्तरतम् को कचोटता रहता है ; उसे कभी शांत नहीं रहने देता। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्र में जो समस्याएँ पैदा हुई हैं, तथा व्यक्ति आज पहले से अधिक क्षुब्ध एवं अशांत प्रतीत होता है, और इस क्षोभ के मारे स्वराज्य को, स्वतन्त्रता को कोसने लगा है, उसका कारण भी यही है, कि व्यक्ति की इच्छाएँ आकांक्षाएँ बहुत तीव्र हो गई हैं, और उनकी पूर्ति होना बहुत कठिन है। जैसा कि अक्षय जी ने कहा—हमने स्व-राज्य से बहुत ज्यादा आकांक्षाएँ की, और उनकी पूर्ति कर पाना किसी भी नवोदित राष्ट्र के लिए आसान नहीं है, इसीलिए जनता को स्वराज्य से निराशा हुई है और आज वह अशान्त, क्षुब्ध और बौखलाई हुई-सी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामराज्य के आधार स्तम्भ :

आपके मन में प्रश्न पैदा हो सकता है, कि क्या स्वराज और रामराज्य की कल्पना फिर मात्र मिट्टी का खिलौना बनकर रह जाएगी ? केवल स्वप्नों और काव्यों की वस्तु ही बनी रहेगी ?

दर असल बात ऐसी नहीं है। गाँधीजी ने रामराज्य की जो कल्पना दी थी वह कोई आकाश से टपक कर नहीं आई थी। गाँधी जी भारतीय चिन्तन एवं संस्कृति की उपज थे, इसलिए उनकी रामराज्य की कल्पना भी भारतीय चिंतन एवं संस्कृति की ही देन है। भारतीय संस्कृति में रामराज्य की कल्पना को चरितार्थ करने वाले दो प्रमुख तत्व रहे हैं—संयम और करूणा।

संयम का अर्थ बहुत व्यापक है, वह कुछ नियत काल की साधना मात्र नहीं है, वह तो जीवन का अभिन्न अंग है। जब तक हम अपने आपको संयमित और अनुशासित नहीं कर लेते, तब तक समाज में सुख और शांति के साथ जी नहीं सकते। संयम इच्छाओं को सीमित करता है, आकांक्षाओं के आगे एक रेखा खींच देता है, जो हमारे व्यक्तित्व को खण्डित होने से बचाती है। और, करूणा मानव को अपनी उपलब्धियों को दूसरे जरूरत मंदों के लिए उत्सर्ग करने की बिना किसी दबाव के सहज भाव से प्रेरित करती है। व्यक्तित्व का अवमूल्यन तभी रुकेगा, जब हम अपने आपको संयमित, स्वस्थ एवं करुणार्द्र कर पाएँगे।

अपना सही मूल्यांकन करिए :

मैं देखता हूँ, वर्तमान का जन-जीवन एक सबसे खतरनाक मानसिक बीमारी से आक्रांत हो रहा है, वह है अपना मूल्य गिराने की बीमारी। कल्पना कीजिए—आप पैदल चल रहे हैं, सामने से कोई साईकिल वाला आ गया और सरसर् करता आपके बगल से निकल गया तो आपके मन में एक हीन-संकल्प उठ गया कि—"इसके पास साईकिल है, हम पैदल हैं। आपने अपना मूल्य कम समझ लिया और साईकिल को महत्त्व दे दिया। साईकिल वाले का मूल्य बढ़ा दिया। स्कूटर वाले को देखा तो साईकिल वाले ने अपना मूल्य कम कर दिया और स्कूटर वाले को अपने से बड़ा समझने लगा। कार वाला कोई सामने आ गया तो बस, आप अपनी नजर में ही अपने को तुच्छ और हीन समझने लग गए। कार वाले को बहुत महत्त्व दे दिया। कार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समक्ष स्कूटर का मूल्य गिर गया। अपनी नजर में अपना मूल्य गिराने की यह वृत्ति बहुत खतरनाक है।

मैं सोचता हूँ, मूल्यांकन की यह दृष्टि बदलनी होगी। हमें अपने व्यक्तित्व का भान करना होगा, और अपना मूल्य समझना होगा। क्या आपका अपना मूल्य कुछ नहीं है ? भौतिक वस्तुओं के भावाभाव से ही आपका मूल्य घटता-बढ़ता है ? आप अपने महान् मूल्य को क्यों गिराते हैं ? अपने व्यक्तित्व को गिराने से व्यक्ति गिर जाता है, समाज गिर जाता है और राष्ट्र गिर जाता है।

प्राचीन भारत में मूल्यांकन की पद्धति कुछ और थी। व्यक्तित्व के पैमाने कुछ बड़े और अच्छे थे। वहाँ भौतिक विकास का मूल्य नहीं होता, किन्तु चरित्र का मूल्य होता था। बड़ी-बड़ी सत्ताएँ चरित्र के सामने नत मस्तक होती थीं। सम्राट और सेनापति त्यागी ऋषियों के चरणों में झुके रहते थे।

जैसा कि मैंने कुछ सुना है—स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका गए, तो उनके शरीर पर तो वही एक साधारण-सी चादर कंधे पर, और एक लूँगी, बस जो यहाँ, वही वहाँ।

धन कुबेर अमेरिका के कुछ लोगों ने कहा—(जो अपने को नयी सभ्यता और संस्कृति के दावेदार समझते थे) आपकी यह कैसी संस्कृति है ? कैसी सभ्यता है ?

स्वामी जी जरा मुस्कराए और बोले—जी हाँ, आपकी संस्कृति में और मेरी संस्कृति में अन्तर है। आपके यहाँ संस्कृति का निर्माण दर्जी करते हैं और मेरे देश में चरित्र करता है।

मेरे विचार में यही एक विकल्प है, जो हमारे दृष्टिकोण को नया मोड़ दे सकता है, हमारी मूल्यांकन पद्धति को बदल सकता है और हमें अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की गौरवानुभूति करा सकता है।

आजकल कुछ हीन स्तर की बातों का बहुत अधिक विज्ञापन हो रहा है। 'भ्रष्टाचार बढ़ रहा है, रिश्वत, बेईमानी, डाका, हत्याएँ और अराजकता फैल रही है, देश रसातल की ओर जा रहा है आदि। हमारे अक्षय जी जैसे पत्रकारों ने भी इन बातों को बहुत महत्त्व दे दिया है और जनता ने भी। प्रतिदिन अखबारों में ऐसी ही अभद्र, घटनाएँ खास सुर्खियों में स्थान पाती हैं, जनता की मनोवृत्ति भी विचित्र है, जब कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी सनसनी खेज खबर नहीं होती, तो पढ़ने वाले कहते हैं कि "अरे आज तो कोई खास खबर ही नहीं है। मारो भी गोली अखबार को" मेरी समझ में विज्ञापन की यह पद्धति गलत है। इससे देश का उत्थान होने वाला नहीं है। अपराध और हिंसा को महत्त्व देने से हमारा दृष्टिकोण भी अपराधी बनता जाएगा। भारत एक विशाल राष्ट्र है। इतने बड़े देश में कुछ ऐसी घटनाओं का हो जाना कोई बड़ी बात नहीं और आज ही क्यों, ऐसी घटनाएँ कब नहीं होती थीं ? रामराज्य में भी घटनाएँ होती थीं, कृष्ण के युग में भी घटनाएँ होती थीं, किन्तु तब उनको इतना महत्त्व नहीं दिया जाता, विज्ञापन नहीं होता था, आज वे घटनाएँ अखबारों की सुर्खियों में आती हैं। परन्तु जीवन तो देवासुर-संग्राम है। यहाँ रावण है तो राम भी तो है, कंस है तो कृष्ण भी तो है, बुरी घटना होती हैं, तो अच्छी घटनाएँ भी तो बहुत होती हैं, ईमानदारी और राष्ट्रप्रेम के उज्ज्वल उदाहरण भी तो सामने आते हैं, किन्तु वे सब अखबारों की तलछट में चले जाते हैं, और सुर्खियों में वे ही गलत घटनाएँ ही चमकती रहती हैं।

मैं सोचता हूँ, गाँधीजी की राम राज्य की कल्पना को चरितार्थ करने के लिए सबसे पहले हमें मूल्यांकन की इस पद्धति को बदलना होगा। अपनी नजर को सही करना होगा। अपने व्यक्तित्व का मूल्य समझना होगा। वह धन या सत्ता से नहीं, किन्तु अपने आत्मबल एवं चरित्र से ही होगा और इसी आधार पर समूचे राष्ट्र का मूल्य आंकना होगा। राष्ट्रीय जीवन में संयम और चरित्र की प्रधानता स्थापित करनी होगी। तपोनिष्ठ बनना होगा। तप का अर्थ सिर्फ सहन करना ही नहीं, किन्तु सहिष्णुता, उदारता और श्रमनिष्ठा को महत्त्व देना है। प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रीय चेतना जगेगी, राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति होगी और राष्ट्र उनके गौरवशाली व्यक्तित्व से, उनके चरित्र और आत्मबल से समृद्ध होगा, तो फिर रामराज्य की कल्पना परियों के देश की कहानी नहीं, किन्तु इसी धरती का जीता-जागता चित्र होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

विचार गोष्ठी

जैन भवन, आगरा

मई, १९६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१० मानव और पशु : एक भेदरेखा

हमारे समक्ष दो आकृतियाँ हैं, दो गतियाँ हैं, याने दो योनियाँ हैं—एक मनुष्य की और दूसरी पशु की। यों तो नरक और स्वर्ग के सम्बन्ध में भी हमारे पास ज्ञान है, किन्तु उसका ज्ञान विशिष्ट ज्ञानियों को भले ही साक्षात् प्रत्यक्ष के रूप में हो, हमारे लिए तो वह शास्त्राधीन होने से परोक्ष ही है। वर्तमान नीति-शास्त्र की दृष्टि से विचार करें, तो नरक और स्वर्ग प्रधानतः भोग-योनि मानी गई है, जबकि मनुष्य और पशु की योनि कर्म-योनि। इस दृष्टि से भी हमारे लिए नरक और स्वर्ग की चर्चा की अपेक्षा मनुष्य और पशु की चर्चा अधिक महत्त्व की होगी।

मनुष्य और पशु-दोनों भाई-भाई की भाँति एक दूसरे के सामने हैं। विश्व के ये दो प्राणी इसी आकाश के नीचे और इसी धरती पर अपने-अपने जीवन-प्रवाह को साथ लिए एक-दूसरे के साथ-साथ कभी सहयोगी बनकर और कभी विरोधी बनकर, कभी रागी और कभी द्वेषी बनकर चलते आ रहे हैं।

भेद का आधार :

यह सत्य है, कि दोनों के जीवन धारण का धरातल समान है, किन्तु उतना ही सत्य यह है, कि दोनों के जीवन धारण का धरातल भिन्न है। जब हमारे दार्शनिक चिंतक यह पता लगाने बैठे, कि इन दोनों में क्या अन्तर है? इस तर्क ने उनके दिमाग को शान्त नहीं रहने दिया कि 'मनुष्य मनुष्य क्यों है? और पशु पशु क्यों है?' आखिर एक ही भूमण्डल पर साथ विचरने वाले इन प्राणियों में भेद-रेखा खींचने का वास्तविक आधार क्या है? इनमें मौलिक अन्तर क्या है?

बुद्धि के पंख जब हिलने लगे, तब आँखें चुप नहीं रह सकीं, बाहर की आँखों ने हलचल की तो उन्होंने आकृति को पकड़ा। आकृति को पकड़ा तो उन्हें मनुष्य और पशु के आकार-प्रकार, रंग-ढंग आदि में अन्तर दिखाई दिया। लेकिन जब अन्तर की आँखों से निहारा तब उनके सामने शारीरिक आकार-प्रकार के अन्तर का कोई महत्त्व नहीं रहा। दोनों के पास एक ही औदारिक शरीर है, मांस, अस्थि, मज्जा से निर्मित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही हाड़-मांस की आकृति है, कोई थोड़ी ऊँची सीधी बन गई है, कोई थोड़ी टेढ़ी-मेढ़ी तिरछी। जब शरीर में कोई मौलिक भेद नहीं मालूम होता है, तो आखिर कौन-सी ऐसी बात है, कि जिससे पशु पशु है और मनुष्य मनुष्य ?

मन से भी परे :

भारतीय संस्कृति के उन्नेताओं की आँखें जीवन की प्रथम सीढ़ी, शरीर पर ही नहीं टिकी रहीं, बल्कि उसकी अगली सीढ़ी पर भी चढ़ती गईं। और इसका पता लगाया, कि शरीर के परे इन्द्रियों का यह क्या खेल चल रहा है। शरीर तो स्थूल है, और वह है पंचभूतों का एक ढाँचा मात्र। इसके बाद जो दूसरा सूक्ष्म तत्व है, वह है, मन। जब तक मन किसी इन्द्रिय के साथ संयुक्त नहीं होता है, तब तक इंद्रियाँ अपने कार्य को पूर्ण रूप से नहीं कर सकतीं। जैन दर्शन एवं आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी जब तक सूक्ष्म मन का योग इन्द्रिय की किसी क्रिया के साथ नहीं जुड़ता है, तब तक उस क्रिया की अनुभूति नहीं होती। मन से भी अगली मंजिल पर जिसका अधिकार है, वह है आत्म-तत्त्व। हमारी सभी गतिविधियों का केन्द्र वहीं है। संसार का सबसे महान् और सबसे गुप्त तत्त्व यही है। यही वह तत्त्व है, जिसकी ज्योति सदा प्रज्ज्वलित रहती है, आँधी वर्षा और तूफान, भूख, प्यास, सर्दी और गर्मी कोई भी तत्त्व इसका तेज मंद नहीं कर सकता, जब इन्द्रियाँ सोती हैं, मन ऊँघने लगता है, तब भी यह परम तत्त्व जगता रहता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश को सघन काली घटाओं की काली चादर भी ढँक नहीं सकती, एक बार यदि प्रकाश कुछ फीका पड़ भी जाए तो पुनः उन घटाओं को चीर कर सूर्य का ज्वाजल्यमान आलोक घटा को दीप्त करने लग जाता है। उसी प्रकार आत्मा पर कर्मों के अनेक गाढ़े आवरण भी पड़ते गए हों, आँखें भी जवाब देने लग गई हों, कान भी अपने मार्ग से किसी को घुसने न देते हों, घ्राण और जिह्वा की शक्ति भी लुप्त हो गई हो, पंचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय में आ गए हों, जहाँ केवल शरीर का आधार ही बचा हो, शीत-उष्ण का स्पर्श ही चेतना का लक्षण प्रकट कर रहा हो, उस अवस्था में भी—आत्मा का वह अविनाशी तत्व अपना एक छत्र साम्राज्य जमाए रहता है। आत्मा पर आवरण आ सकते हैं। रूप और आकृतियाँ बदलती रहती हैं ; किन्तु अस्तित्व नहीं बदलता। चेतना कायम रही है। पोद्गलिक दृश्य जगत संयोगी है, अतः अशाश्वत है, क्षण भंगुर है। चेतना का लोक स्वाभाविक है अतः त्रिकाली है, वह शाश्वत सत्य है। परिवर्तनशील होकर भी अपरिवर्तनशील है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं कौन हूँ ?

विचारकों की अंतदृष्टि जब खुली तब कोई शरीर पर आकर टिक गई। कोई दृष्टि, थोड़ी आगे बढ़ी और इंद्रियों के जेल में गुमराह हो गई। कुछ चिंतक और आगे बढ़े और मन की भूमिका पर आकर रुक गए। पाश्चात्य चिंतक अभी तक मन के घेरे के आस-पास की घूम रहे हैं, जबकि भारत के चिंतक हजारों-लाखों वर्ष पूर्व ही मन के ऊपर की भूमिका पर चढ़ चुके हैं। आत्म-तत्त्व की सत्ता के बारे में उन्होंने चिंतन किया, अनुभव किया और संसार को उसके सम्बन्ध में स्पष्ट विचार दिए।

शरीर तक की बुद्धि तो पशु को भी होती है, इन्द्रिय और मन तक का अनुभव भी पशु-पक्षियों में होता है, किन्तु वे अपने विषय में कुछ भी नहीं जान सकते, कि वे स्वयं क्या हैं ? क्यों हैं कहाँ से आए हैं ? यहाँ आने का क्या मकसद है ? और यदि इस चीज का ज्ञान उन्हें हो गया, तो समझ लीजिए फिर पशु पशु नहीं रहा, वह देवत्व (दिव्य-स्वरूप) की ओर अग्रसर हो गया। संसार के जीवधारियों में मनुष्य की श्रेष्ठता का सिक्का इसलिए चलता है, कि वह इन प्रश्नों के सम्बन्ध में काफी गहराई से चिंतन करता है।

आत्म-तत्व की खोज बहुत आसान नहीं है, इसके पीछे दीर्घ साधना की जरूरत है। तपना पड़ता है। एक व्यक्ति गुरू की खोज करने निकला। अनेक गुरूओं के पास वह पहुँचा। किसी ने उसे स्वर्ग का द्वार दिखाया, किसी ने नरक की घोर यातनाओं का वीभत्स चित्र दिखाया, तो किसी ने इन्द्रासन, चक्रवर्ती साम्राज्य के सुनहरे स्वप्न दिखाए, किन्तु वे सारी भूमिकाएँ शरीर, इन्द्रिय और मन तक ही सीमित रहीं, और उस जिज्ञासु की आत्म-जिज्ञासा बनी की बनी ही रही। अंत में वह एक गुरू के पास पहुँचा। गुरू कुटिया के भीतर बैठे थे, द्वार बन्द थे। जिज्ञासु ने जब द्वार खटखटाए तो भीतर से आवाज आई—कौन है ? जिज्ञासु ने बड़ी शालीनता के साथ जवाब दिया-इसी प्रश्न के समाधान के लिए तो मैं आपके पास आया हूँ कि मैं कौन हूँ ? अभी तक मैं समझ नहीं पाया हूँ।

गुरू ने शिष्य के अन्तर को परख लिया। द्वार खुले और एक भव्यमूर्ति बाहर आई। जिज्ञासु ने गुरू से फिर वही प्रश्न किया कि मैं यह जानना चाहता हूँ, कि मैं कौन हूँ, मैं शरीर हूँ, या इन्द्रिय हूँ ? या मन हूँ ? अथवा इनसे भी परे कुछ और हूँ ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरू ने शिष्य को आश्वस्त किया–"तुम सचमुच ही जिज्ञासु हो। तुम्हारी यह जीवन्त जिज्ञासा तुम्हें अवश्य सत्य के दर्शन कराएगी। तू न शरीर है, न इन्द्रिय है, न मन है। तू तो अखण्ड ज्ञान ज्योतिर्मय आत्मा है, चेतन है।"

भगवान् इन्द्र भूति गौतम भी इसी प्रश्न को लेकर भगवान् महावीर के समक्ष आए कि मैं कौन हूँ? जम्बू स्वामी भी उन स्वर्ग से होड़ लगाने वाले भौतिक ऐश्वर्यों को ठुकराकर इसी प्रश्न का समाधान पाने के लिए साधना के पथ पर चले थे।

हाँ, तो जब तक मनुष्य आत्म-स्वरूप को नहीं पहचानता, मैं कौन हूँ, इस प्रश्न का पता नहीं लगाता, तब तक उसमें और पशु में क्या अन्तर है? क्या भेद है? शक्लों सूरत का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता है। कवि ने कहा है–

"आहार-निद्रा भय-मैथुनं च समान मेतद् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हितेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समाना : ॥"

भोजन, नींद, भय और वासना तक तो मनुष्य और पशु दोनों एक ही रेखा पर खड़े हैं। भोजन की खोज में छोटे-से-छोटे जीव से लेकर जलचर, थलचर, नभचर आदि सभी को दौड़ना पड़ता है। जब पेट सबके पास है, तब भूख भी सबको लगेगी और उसकी परितृप्ति के लिए प्रयत्न भी करना पड़ेगा। निद्रा की दृष्टि से भी दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य सोते हैं, पशु ऊँघते हैं। चाहे धनिक हो या गरीब हो, चाहे कोई मखमल के गलीचे पर सोए, अथवा कँकरीली ऊबड़-खाबड़ जमीन पर, किन्तु नींद दोनों को ही लेनी पड़ती है। यदि नींद नहीं आएगी, तो सम्भव है दिमाग खराब हो जाए। नींद की भाँति भय की भावना से ही मनुष्य को इतने भयानक शस्त्रों के निर्माण की ओर ढकेला है। भय की भावना ने ही आज मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना रखा है। आज जो राष्ट्रों के बीच शीत युद्ध याने ठंडी लड़ाई चल रही है, उसके मूल में भय की भावना ही तो है। हाँ, यह बात जरूर है, कि पशु-पक्षियों में जहाँ भय की भावना, आत्मरक्षा तक ही सीमित है, वहाँ मनुष्य में यह क्रूरता के रूप में भी प्रकट हुई है।

वासना की दृष्टि से मनुष्य पशु से अधिक सभ्य नहीं है। दोनों ही उससे पीड़ित हैं। इसके चक्कर में आकर मनुष्य अपना विवेक तो भूलता ही है, किन्तु बड़े भयानक काण्ड भी कर देता है। फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार काम ग्रन्थि प्रत्येक प्राणी में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यमान रहती है। यही बात जैन मनोविज्ञान कहता है, चार संज्ञाओं में मैथुन संज्ञा की चिनगारी भी प्रत्येक संसारी प्राणी में रहती है। इन चार बातों में तो मनुष्य और पशु की भूमिका समान ही है।

भेद की भूमिका :

अब देखना यह है, कि फिर कौन-सी ऐसी बात है, जो इन दोनों में भेदरेखा खींचती है। जैसे भारत और चीन के बीच में मेक मोहन रेखा खिंची हुई है। आज पश्चिमी बर्लिन और पूर्वी बर्लिन के बीच में भी भेद-रेखा खींची गई है। तो, मनुष्य और पशु को धरातल के बीच भी आखिर कौन-सी वह रेखा है, जहाँ से एक ऊपर उठता है, दूसरा वहीं पर स्थिर रहता है। भेद की यह रेखा आत्म परिबोध से प्रारम्भ में होती है। आत्मपरिबोध की भाषा में मनुष्य अपनी दुर्बलताओं को समझ सकता है। बस, वह उत्तर मिलता है, कि मनुष्य मनुष्य क्यों है ? और पशु पशु क्यों है ? पशु प्रलोभनों की ओर आकृष्ट होता है, वह भूत और भविष्य के परिणाम का स्पष्ट चिन्तन नहीं कर सकता। मनुष्य में विवेक है। शास्त्र की भाषा में विवेक करना यही धर्म है। इस भलाई और बुराई की पहचान ने ही मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

जब हम धर्म की बात करते हैं, तब हमारा अभिप्राय किसी सम्प्रदाय अथवा सम्प्रदायाश्रित मनोवृत्ति से नहीं है। सम्प्रदाय तो मात्र एक मार्ग होता है, मंजिल नहीं। जब हम मार्ग के विषय में ही उलझ कर गड़बड़ा जाते हैं, तब मंजिल पाना मुश्किल होता है। यों समझ लीजिए कि नदी, नहर या कुए का पानी तो धर्म है। उस पानी को स्थिर और उपयोगी रखने के लिए बर्तन रूप सम्प्रदाय है। बर्तन का काम सिर्फ पानी को सुरक्षित रखने का है, यदि बर्तन के कारण पानी गंदा होता हो, तो वह बर्तन उपयुक्त नहीं है। सम्प्रदाय के कारण यदि धर्म बदनाम होता है—जैसा कि होता आया है, तो उस सम्प्रदाय में धर्म की साधना नही हो सकती। अतः सम्प्रदाय का मूल यही है कि वह धर्म की साधना मे आत्मस्वरूप को पहचानने में सहायक हो। यह किसी एक मनुष्य की बात नहीं है। आज का समस्त मानव-समाज ही दिग्भ्रान्त बना है। अपने जीवन की सही दिशा को वह भूल बैठा है। लक्ष्यहीन होकर, इधर-उधर होकर भटक रहा है।

इतने लम्बे विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि मनुष्य और पशु के बीच जो भेद-रेखा है, वह शरीर, इन्द्रिय और मन के बोध से परे आत्मा के परिबोध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की है। आत्मा को पहचानने वाला निश्चय ही धर्म को पहचान लेता है। उपनिषद्कार के शब्दों में तो वह सब कुछ जान लेता है–

"आत्मनि विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञातं भवक्ति।"

जो सब कुछ जान लेता है, वह देवत्व की ओर प्रस्थान करेगा ही। अतः बात हुई, कि धर्म की भूमिका पर से मनुष्य और पशु अलग होते हैं। यदि मनुष्य उस धर्म के बारे में कभी कुछ भी नहीं सोचता है, तो वह थोड़ा चिन्तनीय है। यह तो हम कह आए हैं कि धर्म का मतलब 'निर्मल भावना' से है। काम, क्रोध, लोभ, मात्सर्य आदि की जो तामसिक वृत्तियाँ हैं, अशुद्ध उपयोग हैं, उन पर काबू पाकर, शुद्धोपयोग की ओर अग्रसर बने। लेकिन शुद्धोपयोग इतनी सरल वस्तु नहीं है, कि एक छलांग लगाई और बस चढ़ गए। सर्वोपरि उसके लिए आत्मा में जागृति होनी चाहिए। किन्तु जब तक प्राणी आत्म-जागृति के सोपान पर नहीं चढ़ जाता है, तब तक शुभोपयोग को नहीं छोड़े। लोहे वाले को यदि सोना न मिलकर चाँदी मिलती हो तो क्या ? सोना न मिलने पर क्या वह चाँदी की उपेक्षा करेगा ? अतः स्पष्ट है, शुभोपयोग की ओर प्रवृत्ति होने पर अशुभोपयोग से बचा जा सकता है।

अध्यात्म दृष्टि से विचार करें, तो आकृति से भले ही कोई मनुष्य हो या पशु हो–यदि वह अशुभ में रहता है, तो वह पशुत्व भाव में रहता है। यदि शुभ या शुद्ध की भूमिका में रहता है, तो वह मनुष्य है, देव है। और जब मानव समस्त निम्न भूमिकाओं को लांघकर पूर्ण वीतराग रूप शुद्धत्व की भूमिका पर पहुँच जाता है, तब वह महामानव हो जाता है, देवताओं का भी देवता बन जाता है। उसके जीवन में भ्रान्ति नहीं रहती। उसका लक्ष्य स्थिर हो जाता है।

भगवान महावीर व्यक्ति के सुधार से ही समाज का सुधार मानते हैं। यदि व्यक्ति सुधर जाए, तो सारा समाज ही सुधर जाए।

जैन भवन,
आगरा
नवम्बर, १९६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११ हिंसा-अहिंसा विवेक-सूत्र

मनुष्य के सामने एक विराट और विशाल जगत फैला हुआ है। वह अनन्त चेतन प्राणियों से परिपूर्ण है, और अनन्त-अनन्त जड़ पदार्थों से भी परिपूरित है। मनुष्य का जीवन जड़ पदार्थों से भी प्रतिदिन ही नहीं, प्रतिक्षण होता है और चेतन प्राणियों से भी। जीवन का कोई भी क्षण ऐसा नहीं जाता, कि मनुष्य का किसी के साथ सम्पर्क-सूत्र न जुड़ता हो। परन्तु मनुष्य जड़ के साथ जो व्यवहार करता है—वह अच्छा है या बुरा है, अनुकूल है या प्रतिकूल है, हितप्रद है या अहितप्रद है, इस बात का परिज्ञान जड़ पदार्थों को नहीं होता। यदि किसी पत्थर पर आप पुष्प-हार चढ़ाते हैं, तो इस सद्व्यवहार का पता उसे नहीं चलता, अतः आपके इस व्यवहार से वह प्रसन्न भी नहीं होता। यदि आप उस पर प्रहार करते हैं। उसके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, तब भी उसे उसकी कोई अनुभूति नहीं होती। और आपके इस दुर्व्यवहार से न उसे द्वेष ही आता है। । परन्तु चैतन्य के साथ जो व्यवहार होता है, उसका उस पर प्रभाव पड़ता ही है। उसे अनुकूल और प्रतिकूल, सुखरूप और दुःखरूप—दोनों प्रकार की अनुभूति होती है। "चेतना ही ऐसी शक्ति है—जिसमें प्रत्येक प्रकार के व्यवहार को जानने की, समझने की और उस पर मनन करने की शक्ति एवं क्षमता है। चैतन्य अच्छे और बुरे व्यवहार को समझता है, और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करता है। किसी भी व्यक्ति पर प्रहार किया जाए तो उसे पीड़ा, दुःख एवं क्लेश की अनुभूति होगी, और वह उसका प्रतिकार करने या प्रतिशोध लेने का भी प्रयत्न करेगा।

अहिंसा का जन्म इसी भावना से होता है। किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति पर किया गया प्रहार उसके शरीर तक ही सीमित नहीं है। प्रत्युत वह अन्दर में शरीर से सम्बन्धित चेतना को भी प्रभावित करता है।

प्रहार की अनुभूति चेतना से ही होती है। चेतना से रहित शव पर कितना ही प्रहार करिए, उसे कोई अनुभूति नहीं होती। शव को आप अग्नि में जलाकर भस्म कर देते हैं, तो क्या उसे पीड़ा होती है? इसके विपरीत यदि किसी जीवित व्यक्ति को, चेतन व्यक्ति को जलाने का प्रयत्न करें, तो उसे अनुभूति हुए बिना नहीं रहेगी। अतः हिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अर्थ है—चेतना को किसी भी तरह का आघात एवं चोट पहुँचाना। व्यक्ति के मन को क्लेश, दुःख एवं कष्ट पहुँचाना तथा उसके अन्तर मन में द्वेष और प्रतिशोध की भावना को जागृत करने में निमित्त अर्थात् कारण बनना ही हिंसा है। वास्तव में अपनी चेतना में, भावना में और विशुद्ध विचारधारा में विकृति लाना और दूसरे के मन के भावों की विकृति की ओर प्रवहमान करने में सोद्देश्य कारण बनना ही हिंसा है। मुख्य प्रश्न कर्त्ता की भावना का है। फिर भले ही आप प्रहार के द्वारा किसी को चोट पहुँचा सकें या न पहुँचा सकें ; उसे क्षतिग्रस्त कर सकें, या न कर सकें और उसके भावों को विकृत कर सकें, या न कर सकें। यह सब होना तो परिस्थिति पर निर्भर है। अतः बाह्य घटना का रूप प्रवृत्ति मुख्यतया मापदण्ड नहीं हैं, हिंसा और अहिंसा को मापने का मुख्य मापदण्ड है, उससे आपकी चेतना प्रभावित हुई उसमें विकृति आई। आपकी भाव-धारा स्वभाव से हटकर विभाव की ओर, अशुभ भाव की ओर प्रवहमान हुई और यही है हिंसा। अतः दूसरे का विनाश करने की, दूसरे को क्षति पहुँचाने की और दूसरे को गिराने की भावना हिंसा है। इसके विपरीत दूसरे का हित करने की दूसरे को ऊपर उठाने की, दूसरे को सुख-शान्ति पहुँचाने की शुभ एवं प्रशस्त भावना अहिंसा है।

मानव मन में यह अनुभूति होनी चाहिए, कि सब व्यक्तियों में चेतना एक-सी है। मुझे दुःख अप्रिय लगता और सुख प्रिय लगता है। मैं नहीं चाहता, कि कोई व्यक्ति मेरे पर प्रहार करे, मेरा अपमान और तिरस्कार करे, तो मुझे भी किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए, किसी का अपमान नहीं करना चाहिए, और किसी पर प्रहार नहीं करना चाहिए, बल्कि सबके साथ प्रेम, स्नेह एवं मधुर व्यवहार करना चाहिए, और सबका यथोचित सम्मान करना चाहिए। अस्तु, दूसरे को दुःख, कष्ट एवं पीड़ा नहीं देना, और यदि उसे कोई कष्ट दे रहा हो, तो उससे मुक्त करने का प्रयत्न करना अहिंसा है।

श्रमण भगवान महावीर का दर्शन केवल निषेध की भाषा का प्रयोग नहीं करता। वह सिर्फ नकारात्मक दर्शन नहीं है। वह विधेयात्मक बात भी कहता है। अहिंसा के सम्बन्ध में श्रमण भगवान् महावीर ने हिंसा मत करो, किसी के प्राण मत लो, इतना ही नहीं कहा, परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर दिया, कि अपने हृदय में से, मन में से द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, लोभ, प्रतिशोध के भावों को निकाल कर मैत्री, प्रेम, स्नेह, करुणा, दया और अनुकम्पा की मधुर भावना से उसे परिपूर्ण करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों में से अनुकम्पा, दया या करुणा भी एक लक्षण है। अस्तु, नहीं मारना मात्र अहिंसा नहीं है, प्रत्युत ताप से संतप्त एवं दुःख से उत्पीड़ित के संताप और उत्पीड़न को दूर करने का शुभ संकल्प एवं प्रयत्न करना भी अहिंसा है। किसी प्राणी को नहीं मारना, अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष है, तो मरते हुए प्राणी की रक्षा करना, यह उसका विधेयात्मक पहलू है।

बात यह है कि, अशुभ भाव से की गई प्रवृत्ति हिंसा है और शुभ एवं प्रशस्त भाव से की गई प्रवृत्ति अहिंसा है। किसी भी कार्य के लिए की गई प्रवृत्ति क्रिया है। और, शुभाशुभ भाव जन्य क्रिया से शुभ अशुभ कर्म आएँगे ही। कोई भी क्रिया हो, उसमें कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में बाह्य आरम्भ होता ही है। अतः हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध बाह्य क्रिया मात्र से नहीं, प्रत्युत मनुष्य के मन में तरंगित होने वाले शुभाशुभ भावों पर आधारित है।

हिंसा की भावना व्यक्ति की विकारी भावना है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं विभाव है। विभाव के वशीभूत हो जाने से व्यक्ति अपने स्वभाव को भूल गया है। यों भी कह सकते हैं, कि वह विकारों के रोग से पीड़ित है। भगवान महावीर ने आध्यात्मिक दृष्टि से विकार एवं वासनाओं से पीड़ित व्यक्ति को रोगी कहा है। रोगी घृणा का नहीं दया का पात्र है। क्योंकि रोगी के रोग को दूर करने के लिए उसके प्रति घृणा एवं तिरष्कार नहीं सहानुभूति और स्नेह आवश्यक है। इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने कहा था, पापी से घृणा न करो, पाप से करो। हेय व्यक्ति नहीं है, पाप है। अतः पापी का भी स्नेहपूर्वक सुधार करो। एक बार एक जैन बहन दर्शन करने आई। वह नर्स का काम कर रही थी। बातचीत के दौरान मैंने उससे पूछा, कि नर्स के कार्य में आपको कैसी अनुभूति होती है? उसने एक बहुत बड़ी बात कहीं कि नर्स का कार्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह एक बहुत बड़ी साधना है। साधकों द्वारा विकारों को जीतने का जो कार्य किया जाता है, उससे भी बड़ा और दायित्वपूर्ण कार्य हमारा है। हमें घर, परिवार और मित्रों के मधुर वातावरण को छोड़कर रोगियों के मध्य में रहकर उनकी सेवा करनी होती है, उन्हें सब तरह से रोग मुक्त और स्वस्थ करना होता है। विभिन्न प्रकार की गन्दी बीमारियाँ व्यक्ति को आ घेरती हैं। सामान्य व्यक्ति को यह देखकर रोगी के प्रति घृणा एवं नफरत होती है। बीमार आखिर, बीमार है। बीमारी के कारण उसका स्वभाव प्रायः चिड़चिड़ा हो जाता है। कभी-कभी वह इतना अ[illegible]ु हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, कि बात-बात पर गालियाँ देने लगता है। यदि उसके रोगों एवं गालियों की ओर ध्यान दिया जाए, तो मन में उसके प्रति घृणा, तिरस्कार एवं द्वेष ही जागृत होगा। परन्तु हम अपने मन को इस बात के लिए तैयार करती हैं, कि यह बेचारा रोग की विकृति से पीड़ित है। अतः इस पर द्वेष नहीं करना है। सब ओर से इसे घृणा, तिरस्कार और द्वेष तो पहले ही मिल रहा है। हमें तो इसे प्रेम, स्नेह माधुर्य देकर स्वस्थ करना है। इसलिए उसकी कटु गालियों का उत्तर हम हंसते हुए स्नेहमयी मधुर भाषा में देती हैं, दिन-रात उसकी सेवा में लगी रहती हैं। सहिष्णुता, क्षमा और करुणा का पाठ हमें काफी गहराई तक सीखना होता है, और निष्ठा के साथ उसे जीवन में साकार रूप देना होता है। घर पर परिवार के बीच में कभी-कभी आवेश उभर भी आता है। परन्तु बीमार की सेवा के समय हमें आवेश पर कन्ट्रोल करना पड़ता है।

बहन की बात काफी गम्भीर है। सामान्य लोग इन बहनों की क्षमा, सहिष्णुता और सेवा का मूल्यांकन ठीक तरह नहीं कर पाते। वे समझते हैं, कि इसमें क्या है? बदले में वेतन जो लेती है। परन्तु मैं कहता हूँ, वेतन शारीरिक सेवा कार्य का ही तो है, परन्तु उसके पीछे जो भावना है, कर्त्तव्य की निष्ठा है, उसका मूल्य क्या कोई दे सकता है? आज तक भावना का मूल्य न कोई दे सका है, और न कोई भविष्य में दे सकेगा। वेतन शरीर के स्थूल श्रम का होता है, जो सीमित है, घण्टों के हिसाब से उसकी गणना होती है, परन्तु भावना असीम है, अनन्त है, अतः उसकी गणना हो सके, यह सम्भव ही नहीं है।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि जो भी कार्य करना है—भले ही वह सेवा का हो, शिक्षा का हो या उपचार का हो, उसमें क्रिया तो होगी ही। आप विकारों को छोड़ सकते हैं। परन्तु क्रिया का परित्याग करके निष्क्रिय नहीं हो सकते हैं। कार्य करना है, तो सक्रिय होना ही होगा। प्रारब्ध कार्य को पूरा करना ही होगा। चन्दना जी कहा करती हैं, कि या तो कार्य को छेड़ो मत (प्रारम्भ न करो) और छेड़ो तो छोड़ो मत। भारत के एक महान् मनीषी आचार्य ने भी कहा है—

"अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
आरब्धस्यान्त गमनं द्वितीय बुद्धिलक्षणम्॥"

मनुष्य में बुद्धि होने का पहला लक्षण यह है, कि वह कोई भी कार्य आरम्भ ही न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे। यदि आरम्भ कर दिया है, उसकी दूसरी बुद्धिमता इसी में है, कि वह उसे पूरा करे। विघ्नों के भय से कोई भी अच्छा कार्य प्रारम्भ न करना, मैं बुद्धिमत्ता नहीं मानता। यों ही बेकार जीवन का क्या अर्थ है। अतः प्रारम्भ किए हुए कार्य को पूरा करना ही बुद्धिमान होने का प्रधान लक्षण है। वास्तव में बुद्धिमान वह है, जो अपने दायित्व को, अपने कर्त्तव्य को जीवन के अन्तिम क्षण तक निभाता है।

मैं आपसे कह रहा था, कि जड़ में चेतना का अभाव है, अतः वह यह नहीं जान सकता, कि उसके प्रति आपका व्यवहार कैसा है? हिताहित को जानने, समझने और अनुभव करने की क्षमता चेतन में ही है। इसलिए हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध चेतन से है, जड़ से नहीं। यदि आप किसी व्यक्ति के साथ दुर्व्यवहार करते हैं, तो झट से वह आपको उत्तर देता है। वह तुरन्त ही प्रतिशोध लेने को तैयार हो जाता है। यदि कभी परिस्थितिवश तुरन्त बदला न भी ले सके, तो वह उस भावना को स्मृति-कोष जमा कर लेता है, और समय आने पर बदला ले लेता है। इस जन्म में न ले सका, तो जन्मान्तर में प्रतिशोध लेता है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा, कि वैर से कभी भी वैर समाप्त नहीं होता, हिंसा से हिंसा का दानावल कभी नहीं बुझ सकता। यह अच्छी तरह ध्यान में रखिए, कि जो कार्य आपके लिए अनुकूल नहीं है, वह दूसरे के लिए भी अनुकूल नहीं हो सकता। इसलिए साधक को चाहिए, कि वह किसी के प्रति दुर्व्यवहार न करे। सबके साथ प्रेम, स्नेह, एवं मित्रता का मधुर व्यवहार करे। किसी से भी घृणा न करे। घृणा और तिरस्कार के भावों को प्रेम-स्नेह और सद्भावना में बदलना ही अहिंसा है, और यह अहिंसा की विशुद्ध भावना ही साधना का मूल है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना का भव्य-भवन का आधार स्तम्भ या नींव अहिंसा है। इसलिए इसे जीवन में साकार रूप देना परम आनन्द को प्राप्त करना है।

पूर्वभारत,
जैन भवन, राजगृह
अक्टूबर, १९७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२ जाति-विहीन भारतीय जन-जीवन एक है

जैन-धर्म एक अध्यात्मवादी धर्म है। उसकी सूक्ष्म दृष्टि मानव-आत्मा पर टिकी हुई है। वह दृष्टि मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय, बाह्य-वेष, लिंग, वंश और जाति–इन सबकी दीवारों को भेदती हुई सूक्ष्म आत्मा को ग्रहण करती है। वह आत्मा की बात करता है, आत्मा की भाषा बोलता है। सुख-दुःख के विकल्प, उच्चता-नीचता के मापदण्ड और यहाँ तक की लोक-परलोक की चिन्ता से परे वह शुद्ध अध्यात्म की बात करता है। इसका मतलब यह है कि संसार के जितने भी बाह्य विकल्प हैं–ऊँच-नीच के, चाहे वे जाति की दृष्टि से हो, चाहे धन की दृष्टि से हों, चाहे शासन अधिकार की दृष्टि से हों अथवा अन्य किसी दृष्टि से हों, वहाँ ये विकल्प तुच्छ पड़ जाते हैं। ये सब धारणाएँ उनकी दृष्टि से निष्प्राण, निर्माल्य एवं पूर्ण निरर्थक है। आत्मा के साथ इन धारणाओं का कहीं कोई मेल नहीं बैठता। भले ही पश्चात्वर्ती व्यक्तियों ने कुछ ब्लैकमेल किया हो, किन्तु जैन-धर्म के महान् उद्गाता भगवान् महावीर के वचनों का जो महाप्रकाश हमें मिला है, उसके आलोक में देखने से पता चलता है कि जैन-धर्म का शुद्ध रूप आत्मा को छूता है। जाति, सम्प्रदाय, वंश और लिंग का ब्लैकमेल सांठ-गाँठ करने वाले, जैन-धर्म की आत्मा के साथ अन्याय कर रहे हैं।

सब में समान आत्मा है :

भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया, अपने जीवन में जो विलक्षण कार्य किये, वे इस बात के साक्षी हैं कि जैन-धर्म का संदेश आत्मा को जगाने का संदेश है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक की आत्मा में कोई भेद नहीं है। उसके समक्ष जितने आत्म-गौरव के साथ एक कुलीन ब्राह्मण आ सकता है, उतने ही गौरव के साथ एक नीच और अन्त्यज कहा जाने वाला शूद्र-चाण्डाल भी आ सकता है। वह यदि ब्राह्मणकुमार इन्द्रभूति गौतम का स्वागत करता है, तो स्वपाक पुत्र हरीकेशीबल और चाण्डाल सुत महर्षि मेतार्य का भी उसी भाव और श्रद्धा के साथ स्वागत, सम्मान एवं आदर करता है। आत्मा किसी भी परिस्थिति में चल रही हो, किसी नाम रूप और जाति की सीमाओं में खड़ी हो, पर उसमें भी यही आत्म-ज्योति जल रही होती है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हारे भीतर भी है। भगवान् महावीर ने कहा है कि यदि तुम्हारे सामने कोई आता है, जो तुम उसकी आत्मा को देखो। उसे जागृत करने का प्रयत्न करो। उसके नाम, रूप आदि में मत उलझो। तुम आत्मवादी हो, तो आत्मा को देखो। शरीर को देखना, नाम, रूप एवं जाति को देखना, शरीरवादी या भौतिकवादी दृष्टि है। आत्मवादी इन प्रपंचों में नहीं उलझता है, उसकी दृष्टि में तेज होता है। अतः वह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप को ग्रहण करता है, स्थूल पर उसकी दृष्टि नहीं अटकती। वह सूक्ष्म तत्त्व को पहचानता है और उसी का सम्मान करता है।

जाति नहीं, चरित्र ऊँचा है :

जैन-धर्म शरीरवादियों का धर्म नहीं है। यदि अष्टावक्र ऋषि के शब्दों में कहा जाय, तो वह चर्मवादी-धर्म नहीं है। वह शरीर, जाति या वंश के भौतिक आधार पर चलने वाला पोला धर्म नहीं है। अध्यात्म की ठोस भूमिका पर खड़ा है। वह यह नहीं देखता कि कौन भंगी है, कौन चमार है और कौन आज किस कर्म तथा किस व्यवसाय में जुड़ा हुआ है ? वह तो व्यक्ति के चरित्र को देखता है, पुरुषार्थ को देखता है, और देखता है, उसकी आत्म-पवित्रता को। श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार जाति नहीं है, बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है, अपना आचरण है। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी कर्म के आधार पर ही होता है। संसार में कर्म की प्रधानता है। समाज के वर्ण और आश्रम कर्म के आधार पर ही विभक्त हैं। इसमें जाति कोई कारण नहीं है। मनुष्य की तेजस्विता और पवित्रता उसके तप और सदाचार पर टिकी हुई है, न कि जाति पर। मनुष्य अपने कर्म के द्वारा ऊँचा होता है और कर्म के द्वारा ही पतित होता है। समाज और देश में उस युग में जातिवाद और वर्गवाद का, जो एक कांटों का घेरा खड़ा हो गया था, उसे जैन-धर्म ने तोड़ने की कोशिश की। मनुष्य-मनुष्य, और आत्मा-आत्मा के बीच समता एवं समरसता का भाव प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयत्न किया। यही कारण है कि भगवान् महावीर जातिहीन भारतीय जन-जीवन को एक ही मानते थे।

वर्ण व्यवस्था का मूल रूप :

हिंसा के दो प्रकार हैं। प्रत्यक्ष हिंसा और परोक्ष हिंसा। प्रत्यक्ष हिंसा मनुष्य की समझ में जल्दी आ जाती है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पाँच इन्द्रिय वाले जीवों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक हिंसा कब और कैसे हुई, इसका आसानी से पता चल सकता है। किन्तु परोक्ष हिंसा का रूप बहुत सूक्ष्म, व्यापक और दुरूह है। उस ओर पूरा ध्यान भी नहीं जाता। परोक्ष हिंसा की गहराई को समझना अत्यन्त आवश्यक है। परोक्ष हिंसा को हम सामाजिक हिंसा कह सकते हैं, जिसमें जीवों की हत्या नहीं होती, परन्तु सामाजिकता के वातावरण में व्यवधान पैदा होता है। सामाजिक हिंसा एक नया शब्द प्रतीत होता है। किन्तु हिंसा के विविध रुप हैं और अलग-अलग अगणित प्रकार हैं। हम ज्यों-ज्यों गहराई से चिन्तन करेंगे, त्यों-त्यों हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म एवं व्यापक रूप प्रकट होते जायेंगे।

समाज और सामाजिक जीवन क्या है ? समाज कैसे बना है? जमीन के टुकड़ों को समाज नहीं कहते, मकानों, ईंटों या पत्थरों का ढेर भी समाज नहीं कहलाता। गली, कूंचे, सड़क आदि का नाम भी समाज नहीं है। समाज एक-एक व्यक्ति का सम्मिलित समुदाय है। उसे मानव समुदाय कह सकते हैं। उस मानव समुदाय में आपसी व्यवहार कैसा हो, आपसी सम्बन्ध मधुर हों या नहीं, एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ, एक गाँव का दूसरे गाँव के साथ कहीं घृणा और द्वेष का सम्बन्ध तो नहीं चल रहा है। इस प्रकार की सामूहिक या समूह-विशेष के प्रति चल रही घृणा सामाजिक हिंसा कहलायेगी।

जातिवाद :

विश्व के जितने भी मनुष्य हैं, वे सभी मूलत : एक हैं। कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता। आज मनुष्य जाति में जो अलग-अलग वर्ग दिखलाई देते हैं, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से या धंधों के भेद से बने हैं। यदि उन धंधों के आधार से बने हुए वर्ग आपस में टकराने लगें या संघर्ष करने लगें तो वह अहिंसा की परिधि से बाहर चला जायेगा। समाज बदलता है, युग बदलता है, परिस्थिति बदलती है। इसलिए आज जातिवाद का सारा आधार भी बदल गया है। आज सहस्र खंडों में विभाजित मानव जाति पुनः एकता के सूत्र में बंधना चाहती है; इसलिए हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं कि आज का मानव अहिंसा की ओर प्रगति करना चाहता है।

वर्ण-व्यवस्था समाज के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए नहीं, बल्कि उसमें सुव्यवस्था कायम करने के लिए बनायी गई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शद्र इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णों का एकमात्र आधार उद्योग, धंधा या कर्तव्य था। समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही ये वर्ण स्थापित हुए थे। समाज को शिक्षित करने के लिए ब्राहमण वर्ग स्थापित हुआ। किन्तु आज ब्राह्मण ऐसा समझता है कि मैं बहुत ऊँचा और पवित्र हूँ। शेष सभी मानव मुझसे नीचे हैं, अपवित्र हैं। संसार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नहीं, सिर्फ लेने ही लेने का है। किन्तु वास्तव में इस मनगढ़न्त सिद्धान्त पर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना नहीं हुई थी।

जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार ताकतवर, प्रतिभावान और शक्तिशाली लोग असमर्थों का शोषण करने लगते हैं। यदि शक्तिमान लोग न्याय और अन्याय को कभी तोलते भी हैं तो उनका तराजू अपनी बुद्धि होती है और बांट अपने स्वार्थ का होता है। अपनी बुद्धि की तराजू में अपने स्वार्थ के बांटों से तौलने वाले न्याय और अन्याय को कब समझ सकते हैं ? शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्तियों के हाथों से यदि असमर्थों और अविकसित मनुष्यों का शोषण होता रहा, तो वह मानवों का नहीं, बल्कि दानवों का समाज होगा। शक्तिशालियों द्वारा निर्बलों का उत्पीड़न न हो, उन्हें भी जीवित रहने का अधिकार मिले, उनकी भी समुचित रक्षा की जाय, इस प्रयोजन से क्षत्रिय वर्ण की स्थापना हुई। क्षत्रिय वर्ग और उनका मुखिया राजा, महलों में बैठकर ऐश-आराम करने के लिए नहीं था। अपितु इसलिए था कि देश के किसी भी कोने में जब अत्याचार हो और कोई एक वर्ग किसी दूसरे वर्ग द्वारा कुचला जाता हो तो क्षत्रिय अपनी प्राणों की आहुति देकर भी रक्षा का उत्तरदायित्व ग्रहण करें।

वैश्य वर्ण की स्थापना दुनियाँ का शोषण करके अपने ही पेट को मोटा बनाने के लिये या अपनी ही जेब भरने के लिए नहीं हुई थी। प्रजा के जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुलभता से उपलब्ध होती रहे ; उपभोक्ताओं को प्रत्येक वस्तु समान सुविधा के साथ मिलती रहे, इसके लिए वैश्य वर्ग कायम हुआ। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करने के बाद अपने और अपने परिवार के लिए वह उचित पारिश्रमिक ले सकता था। परन्तु आज तो वैश्य वर्ग शोषण का माध्यम बना हुआ है। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच दीवार बना हुआ है।

शूद्र वर्ग का कार्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। समाज की सेवा करना, उसका कर्त्तव्य था। शूद्र वर्ग की स्थापना में किसी भी प्रकार की मानसिक संकीर्णता तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हीन-भावना काम नहीं कर रही थी। यदि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र वर्ग को किसी भी अंश में हीन माना गया होता तो फिर कौन इस वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होने को तैयार होता। जैसे अन्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से कायम किए गए थे, उसी प्रकार यह वर्ण भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

कर्त्तव्य पराङ्गमुखता :

आज ब्राह्मण समाज इस बात को बड़े गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं। किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं करता। इसी तरह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने दायित्व को नहीं समझ रहे हैं। ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण आत्म-विद्या और आत्म-ज्ञान का प्रचार करें, उपदेश करें, अध्ययन करें। इसी तरह क्षत्रियों को चाहिए कि वे अपनी भुजाओं द्वारा असहायों, असमर्थों और दीनों का संरक्षण करें। वैश्य समाज का कर्त्तव्य है कि वह उदर से उत्पन्न होने के कारण कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग के द्वारा मानव समाज की रोटी की समस्या हल करे। उसी तरह शूद्र वर्ग की भी यह जिम्मेदारी है कि वह समाज सेवा का व्रत ग्रहण करके अपनी सेवा से समाज को सुखी एवं स्वस्थ बनाये।

अन्याय :

आज शूद्र वर्ग के साथ जो अन्याय हो रहा है, वह देखकर हृदय तड़पने लगता है। शूद्र-वर्ग के लोग तो दिन भर कड़ी मेहनत करके समाज की कुत्सित-से-कुत्सित सेवा करते हैं और समाज के लोग उन्हें पास बैठाना भी नहीं चाहते। आश्चर्य की बात है कि मोटरों में कुत्ते और बिल्ली को तो जगह मिल जाती है, किन्तु मानव-देहधारी शूद्र को यह हक हासिल नहीं है। इंसान को इंसान के पास बैठने का भी हक नहीं है। धर्म-स्थान में भी हरिजन को प्रवेश करने को अभी पूरी तरह से, खुले आम अधिकार नहीं मिला है।

एक शूद्र, मान लीजिये कि किसी धर्मस्थान में पहुँचा तो या तो वहाँ उसे प्रवेश ही नहीं मिलेगा या फिर उसे बाहर ही रुके रहने के लिए कहा जायगा। किन्तु उसे भी धर्मस्थान में बैठकर आत्मचिन्तन करने का अधिकार है, ऐसा नहीं माना जाता। वह बेचारा नीचे बैठकर धर्म प्रवचन सुनता है और अन्य तथाकथित सवर्णी लोग मंदिर में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बैठते हैं। हालांकि जो हवा उसे छूकर आती है, वह उन सवर्णी लोगों को भी लगती है। तो फिर उपाय ही क्या है ? जब हवा ही हमें भ्रष्ट कर रही है, तब फिर सहारा क्या रहेगा ?

इस अशोभनीय दृश्य को देखकर हमने प्रयत्न किया कि हरिजनों को भी सर्वसाधारण के पास ही बैठने की जगह मिलनी चाहिए। एक हरिजन तो दरवाजे के पास जूतों के किनारे खड़ा रहे और दूसरे-लोग अपने को बहुत बड़ा मानकर दरियों पर बैठें, यह ठीक नहीं। आज के इस प्रगतिवादी युग में भी ऐसे संकीर्ण लोग देखे गए हैं कि यदि हरिजन आया और संत के पैर छू गया तो फिर वे खड़े-खड़े ही वन्दना कर लेते हैं और साधू के पैर नहीं छूते। इस मन की संकीर्णता में वह कितनी बुरी तरह से उलझा हुआ है। भगवान महावीर ने इस संकीर्णता को सुलझाने का प्रयत्न किया था, लेकिन वे पूर्णतः सफल नहीं हुए। उनके बाद ढाई हजार वर्ष की लम्बी परम्परा गुजरी और आचार्यों ने अस्पृश्यता का समय-समय पर तीव्र विरोध भी किया। फिर भी वह उलझन आज तक बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई, ऐसे भी साधु आए कि जिन्होंने जनता की रुढ़िवादी आवाज में अपनी आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन दिया। एक दिन जैन संस्कृति को जातिवाद के निरसन के लिए घोर संघर्ष करना पड़ा था और नास्तिकता का उपालंभ सहकर भी उसने जातिवाद का विरोध किया था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र संस्कृति घृणित अस्पृश्यतावाद की दलदल में फंस गई। यहाँ तक की अस्पृश्यता के पक्ष में शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है।

एक ही जाति :

वास्तव में जैन संस्कृति तो एक ही मनुष्य जाति स्वीकार करती है। मनुष्यों में दो जातियाँ हैं ही नहीं। मानव को देखते ही हम यही समझते हैं कि वह एक मानव है, वह शूद्र है या ब्राह्मण है या क्षत्रिय है, ऐसा बिना परिचय के तुरन्त मालूम नहीं होता। स्वाभाविक रूप से जितना मालूम होता है उतना ही वास्तविक है। उसके अलावा जो कुछ भी जातिवाद के प्रपंच रचे गये हैं वे अवास्तविक हैं और संकीर्णता के द्योतक हैं।

हमारी मध्यकालीन संस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गयी थी कि वह सब जगहों से हटकर एकमात्र भोजन के स्थान में बन्द हो गयी। न जाने यह झूठ किसने फैला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया कि अमुक का छुआ खा लेने से धर्म चला जाता है। एक ओर तो भारतीय संस्कृति अद्वैत की उपासना करती है। बड़े-बड़े आचार्य, वेदांत-शास्त्रियों के माध्यम से जनता के सामने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म एक है और हमें जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह सब ब्रह्म का ही रूप है। लेकिन दूसरी तरफ हम ब्रह्म के ही रूप का, जब वह रूप शूद्र या नीच जाति का बाना पहन कर आता है, तब हम उससे घृणा करते हैं। वेदांत तो कहता है कि पानी से भरे हजारों घड़े रखे हैं। उनमें कुछ सोने के हैं, कुछ चाँदी के हैं, कुछ दूसरी धातुओं के हैं। परन्तु उन सब में भी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब तो एक समान ही पड़ता है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों में ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब झलकता है।

हमारे कुछ प्रगतिशील विचारक-गण जब कभी धर्म-सम्बन्धी बातें सुनते हैं और उमंग के साथ मानव-संस्कृति पर विचार-विनिमय करते हैं, तब ऐसा मालूम पड़ता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान उन्हीं को मिल गया है। किन्तु जब खान-पान की बात सामने आती है, तब उनका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौन-सी कन्दरा में छुप जाता है। इस प्रकार एक वर्ग से दूसरे वर्ग या एक समूह से दूसरे समूह के प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है, तो वह सामाजिक हिंसा होती है।

जहरीले कीटाणु :

अपनी गलतियों को, चाहे वह एक हो या एक हजार, सबके सामने हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। जातिवाद को दिया जाने वाला प्रोत्साहन अनुचित है। और इसलिए पीढ़ियों से होने वाली अपनी इस गलती को हम स्वीकार करलें और उसे सुधारने की कोशिश करें यही हमारा कर्तव्य है। क्योंकि जातिवाद ने हमारे समाज को छोटे-छोटे कटघरों में बाँधा है। अगर हम इस बिखरे हुए एवं टूटे हुए समाज को फिर से अखंड बनाना चाहते हैं तो हमें उसके लिए कुछ न कुछ त्याग करना ही पड़ेगा। जातिवाद का प्रश्न भूत बनकर आज सारे समाज को तंग कर रहा है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को समझते हुए भी हमें आज तो जातिवाद का निरसन करना ही होगा। क्योंकि जब तक जातिवाद के जहरीले कीटाणु समाज में फैले हुए रहेंगे, तब तक मानवता चिर-सुरक्षित नहीं रह सकती।

एक ओर जब हम सांस्कृतिक सौहार्द्र का दृष्टिकोण बनाने जा रहे हैं तो दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर हमारा यह संकीर्ण मनोभाव ठीक नहीं है। क्या दोनों विचारों में अंशमात्र भी सामंजस्य है? अगर हम सांस्कृतिक सौजन्य के आधार पर तथा त्याग और सहयोग के आधार पर जीवन को सुव्यवस्थित करें तो दोनों प्रकार के विचारों को हम गहराई से समझ सकेंगे और उसमें से जो उपादेय है, वह ग्रहण कर लेंगे। नर्क और स्वर्ग की बातें करने वाले ही बगल में बैठे इन्सान को अपनाने में हिचक कर जाते हैं। उसको तो सामाजिकता के नाते गले लगाना चाहिए। यदि उस मनुष्य को देखकर आपके हृदय में सात्विक स्नेह की जागृति नहीं होती तो ऐसा मानना चाहिए कि अहिंसा और धर्म के प्रति आपका सच्चा अनुराग जागृत नहीं हो रहा है। उदार और व्यापक दृष्टिकोण के लिए हरिकेशबल और मेतार्य मुनि की कथाओं के रूप में जैन संघ का अतीत बहुत गौरवपूर्ण रहा है और जातिवाद का विरोधी रहा है। हमें अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर अब ध्यान देना चाहिए और मानुषिक कालुष्य से ऊपर उठकर जीवन के सम्बन्धों को स्थिर करना चाहिए।

हरिजन सम्मेलन
आगरा
७ मार्च, १९८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३ राष्ट्र चेतना का मूल : त्याग में है, भोग में नहीं

मनुष्य के महत्त्व और प्रतिष्ठा का मूल आधार क्या है ? प्राचीन शास्त्रों और ग्रन्थों में उसकी प्रतिष्ठा का जो आधार बताया है, वह क्या है, और वर्तमान में वह किस आधार पर चल रहा है ? इस पर विचार और चिन्तन करना है।

मनुष्य की प्रतिष्ठा का मूल आधार उसका अपना मनुष्यत्व, मानवता ही माना गया है। चरित्र, त्याग, सेवा और प्रेम – इसी आधार पर मानव की महत्ता तथा प्रतिष्ठा का महल खड़ा किया गया था। पर आज लगता है–मनुष्य स्वयं इन आधारों पर विश्वास नहीं कर रहा है। अपनी प्रतिष्ठा को चार चाँद लगाने के लिए उसकी नजर भौतिक साधनों पर जा रही है, वह धन, सत्ता और नाम के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा का नया प्रासाद खड़ा करना चाह रहा है। आज महत्ता के लिए एकमात्र भौतिक विभूति को ही आधार मान लिया गया है।

एक कहानी चलती है कि एक गाँव में कोई यात्री आ रहा था, रास्ते में उसे कोई आदमी मिल गया। यात्री ने उससे पूछा–"भाई, इस गाँव में मुखिया कौन है, चौधरी का नाम क्या है?"

उसने पूछा–"तुम्हें क्या मतलब है ?"

कहा उसने कि "बाहर से आया हूँ, इसलिए गाँव के चौधरी का नाम तो जान लेना चाहिए न ?"

उसने उत्तर दिया–"पिछली साल मुखिया मेरा भाई था, इस साल मैं हूँ।"

यात्री ने जरा आश्चर्य से पूछा–"ऐसा क्यों ? एक साल में ही बदल कैसे गए ?"

गाँव वाले ने बताया–"पिछली साल उसके यहाँ दो मन अनाज ज्यादा हुआ था, इसलिए मुखिया वह बन गया था और इस साल मेरे यहाँ दो मन अनाज ज्यादा हुआ, तो मैं मुखिया बन गया।"

इस बात में विनोद का पुट जरूर है, किन्तु आज के समाज की वास्तविकता यही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। आज समाज और राज्य ने प्रतिष्ठा का आधार बदल दिया है, मनुष्य के दृष्टिकोण को बदल दिया है। आज की संस्कृति और सभ्यता धन और सत्ता पर केन्द्रित हो गई है। इसलिए मनुष्य की प्रतिष्ठा का आधार भी धन और सत्ता बन गए हैं। धन और सत्ता बदलती रहती है, हस्तान्तरित होती रहती है, इसलिए प्रतिष्ठा भी बदलती रहती है। आज जिसके पास सोने का अम्बार लगा है, या कहना चाहिए नोटों का ढेर लगा है, जिसके हाथ में सत्ता है, शासन है, वह चरित्रहीन और दुराचारी होगा, तो भी उसे सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती रहेगी, समाज उसकी जय-जयकार करता रहेगा, सैकड़ों लोग उसकी कुर्सी की परिक्रमा करते रहेंगे। चूंकि सारी प्रतिष्ठा उसकी तिजोरी में बन्द हो गई है, या कुर्सी के चारों पैरों के नीचे दुबकी बैठी है। यह आधार स्थायी नहीं है और सही भी नहीं है।

सत्ता और सम्पत्ति :

धन और सत्ता के आधार पर प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा कभी स्थायी नहीं होती। वह इन्द्रधनुष की तरह एक बार अपनी रंगीन छटा से संसार को मुग्ध भले ही कर ले, किन्तु कुछ काल के बाद उसका कोई अस्तित्व आसमान और धरती के किसी कोने में नहीं मिल सकता। यदि धन को स्थायी प्रतिष्ठा मिली होती, तो आज संसार में धन कुबेरों के मंदिर बने मिलते। उनकी पूजा होती रहती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और रावण जैसों की मालाएँ फेरी जातीं। जरासंध और दुर्योधन को संसार आदर्श पुरुष मानता। जिनकी सोने की नगरी थी, जिनके पास अपार शक्ति थी, सत्ता थी, अपने युग में उन्हें प्रतिष्ठा भी मिली थी, ख्याति भी मिली थी। पर याद रखिए, प्रतिष्ठा और ख्याति मिलनी दूसरी बात है, श्रद्धा मिलना कुछ और है। जन-श्रद्धा उसे मिलती है, जिसके पास आत्म-श्रद्धा होती है, चरित्र होता है। ख्याति, प्रशंसा और प्रतिष्ठा क्रूरता से भी मिल सकती है, मिली भी है, पर युग के साथ उनकी ख्याति के बुलबुले भी समाप्त हो गए, उनकी प्रतिष्ठा आज खंडहरों में सोयी पड़ी है।

मनुष्य के मन की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है, कि वह इस बाह्य प्रतिष्ठा के बहाव में अंधा होकर बहता चला जा रहा है।

एक बार मैं एक शहर में गया। एक सेठ का बगला बन रहा था। मैंने पूछा—"यह क्या शुरू किया है ? पहले भी तो बहुत बंगले पड़े हैं। फिर इस नये का क्या करना है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हें ?'' तो उसने कहा, ''महाराज ! लड़का अमेरिका गया था, वहाँ से एक नया नमूना लाया है, उसी नमूने का बनवा रहे हैं।''

बात यह है कि आवश्यकता तो नहीं है, पर एक नमूना आया है, नया है, वह नमूना तंग कर रहा है। उस नमूने का बंगला बनेगा, लोग देखने आएँगे, साथी और मित्र, नातेदार और रिश्तेदार वाह-वाह करेंगे। बस यह 'वाह-वाही' ही आज के मानव को तंग कर रही है। नया बंगला खड़ा हुआ है, तो उसके साथ प्रतिष्ठा का एक नया कीर्तिमान खड़ा हो गया।

संसार में बड़े-बड़े राजमहल बने हैं, किले बने हैं। जब बने तब युग की पूरी प्रतिष्ठा अपने में केन्द्रित करके सिर ऊँचा उठाये खड़े रहे, पर काल की आँधी चली, तूफान आए और महल मिट्टी में मिल गए, किले खंडहर बन गए।

कुछ सिंहासनों की होड़ में आगे बढ़े, साम्राज्य विस्तार की लालसा में बेपनाह बहते गए। साम्राज्य को ही उन्होंने अपनी अमर प्रतिष्ठा का कीर्ति स्तम्भ बनाना चाहा, पर यह उनकी बेवकूफी ही निकली। आज उनके साम्राज्यों का कोई नामोनिशान नहीं रहा। उनके स्वर्णसिंहासन बहुत जल्दी समाप्त हो गए। इतिहास के पृष्ठों पर कहीं उनके लिए दो शब्द की जगह भी नहीं रही।

सिंहासन की होड़ :

मैं देखता हूँ, सिंहासनों की होड़ में मनुष्य अन्धा होकर चला है। राजगृह में चातुर्मास किया था मैंने, वहाँ का इतिहास भी पढ़ा है। सम्राट अजातशत्रु बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी सम्राट हो गया है। युवावस्था में प्रवेश करते ही उसकी असीम महत्त्वाकांक्षाएँ सुरसा की भाँति विराट रूप धारण कर लेती हैं। सोचता है—''बाप बूढ़ा हो गया है। चलता-चलता जीवन के किनारे पहुँच गया है। अभी तक तो सिंहासन मुझे कभी का मिल जाना चाहिए था। मैं अभी युवक हूँ, भुजाओं में भी बल है। बुढ़ापे में साम्राज्य मिलेगा तो क्या लाभ ? कैसे राज्य विस्तार कर सकूँगा ?'' कैसे साम्राज्य का आनन्द उठा सकूँगा ?'' बस, वह राज्य के लिए बाप को मारने की योजना बनाता है। सिंहासन के सामने पिता के जीवन का कोई मूल्य नहीं रह जाता है।

श्रेणिक भी बूढ़ा हो गया है, पर मरना तो किसी के हाथ की बात नहीं। गृहस्थाश्रम त्याग उसने किया नहीं। कभी-कभी सोचा करता हूँ, कि भारत की यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरानी परम्परा कितनी महत्त्वपूर्ण थी कि बुढ़ापा आ गया, शरीर अक्षम होने लगा, तो नयी पीढ़ी के लिए मार्ग खोल दिया – "आओ ! अब तुम इसे संभालो, हम जाते हैं।" और संसार त्याग करके चल दिए। महाकवि कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का वर्णन करते हुए कहा है –

शैशवें S भ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धक्यें मुनि-वृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

बचपन में विद्याओं का अभ्यास करते रहे, शास्त्रविद्या भी सीखी और शस्त्रविद्या भी। यौवन की चहल-पहल हुई, तो विवाह किया, गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। न्याय और नीति के आधार पर प्रजा का पालन किया। जब जवानी ढलने लगी, बुढ़ापे की छाया आने लगी तो यह नहीं, कि राजसिंहासन से चिपटे रहे, भोगों में फँसे रहे। राजसिंहासन अपने उत्तराधिकारी को सौंपा और मुनि-वृत्ति स्वीकार करके चल पड़े। गृह और राज्य से मुक्त होना ही मात्र उनका कोई ध्येय नहीं था। उस निवृत्ति के साथ ही आत्मा की प्रवृत्ति भी चालू थी। गृहत्याग करके आत्म ज्योति जगाने की साधना करने लगे, योग की उच्चतम भूमिका पर पहुँचने की साधना करने लगे और अन्त में योग-साधना करते-करते ही मन की परम समाधि और शांति के साथ देह को छोड़ दिया। कितना उच्च जीवन-दर्शन था, उस समय का। जीवन में भोग और योग का सुन्दर सामञ्जस्य उनके जीवन में हुआ था। जीयें जब तक सुख और आनन्द से जीयें, मरें तब भी आनन्द और समाधिपूर्वक। आज के जीवन के साथ उस जीवन की तुलना करता हूँ, तो सोचता हूँ, कितना अन्तर आ गया है ? आज मानव, जीवन भर हाय-हाय करते चलते हैं, पीड़ाओं और लालसाओं में कहीं भी क्षण भर का चैन नहीं है और अंतिम समय रोगों से घिर जाने पर भी जीने की लालसा नहीं छूटती। **'रोगेनान्ते तनुत्यजाम्'** की जगह आज **'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'** का आदर्श हो रहा है। जीवन की स्थिति में कितना बड़ा परिवर्तन आ गया है ? जीवन के आधार और मानदंड कितने बदल गए हैं ?

मैं बतला रहा था, कि श्रेणिक भी उस महान् आदर्श को भुला देता है। नये खून में उमंग होती है, आँधी और तूफान का वेग होता है, उसे रोका नहीं जा सकता, अच्छा या बुरा कोई न कोई रास्ता उसे बढ़ने के लिए चाहिए ही। कूणिक आगे बढ़ने का रास्ता खोजता है। वह प्रतीक्षा करते-करते अधीर हो जाता है। लालसाएँ उन्मत्त हो जाती हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह उनमें बह जाता है। जीवन में यह सबसे बड़ी खतरनाक घड़ी होती है, जब मनुष्य धैर्य के बाँध तोड़कर तुरन्त फल पाने के लिए आकुल हो उठता है। जीवन तो एक साधना है। फल के लिए व्याकुल होने से साधना खण्डित हो जाती है। कर्म करते चले जाओ, निष्काम भाव से करते जाओ, एक-न-एक दिन कर्म की सफलता निश्चित है। उसके लिए अधीर या व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं है। निष्कामता जीवन में जब जगती है, तब मनुष्य धैर्यशाली, विचारशील एवं समाधिनिष्ठ बनता है।

निष्कामता बनाम निष्कर्मता :

कभी-कभी निष्काम कर्म का अर्थ समझने में बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। निष्काम कर्म का अर्थ, शून्यता या निष्क्रियता नहीं है। यह तो जड़ता है। धर्मात्मा का अर्थ यह नहीं कि वह मिट्टी के ढेले की तरह जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा रहे। यह तो निष्कर्मता हो गई। निष्कर्मता हमारा आदर्श नहीं, हमारा आदर्श है निष्कामता।

एक गाँव में हम गए। गाँव के बाहर महंत जी का आश्रम था, साफ-सुथरी एकांत जगह। विश्राम के लिए ठहर गए। महन्त जी बहुत भी भारी भरकम थे। हाथ-पैर पसारे लम्बे-चौड़े होकर लेटे रहते थे। ऐसे ही बात चली तो मैंने हँसकर कहा–"आपका शरीर तो बहुत स्थूल हो गया है।"

महन्त जी बोले–"और क्या, संत और मतीरे (तरबूज) तो पड़े-पड़े ही फूला करते हैं।"

मुझे जरा हँसी आ गई। वास्तव में संत की यह व्याख्या तो नहीं होनी चाहिए, कि वह निष्कर्म होकर पड़ा रहे। कर्म तो करते रहना चाहिए। संत हो, चाहे गृहस्थ, अकर्म की स्थिति में यों कोई मनुष्य कैसे रह सकता है ? कर्म का निषेध नहीं, कर्म के लिए शर्त केवल इतनी है, कि कर्म के साथ कामना नहीं होनी चाहिए।

एक सज्जन थे। अच्छे पैसे वाले थे। गाँव में किसी कारण से आग लग गई, तो गरीबों की सहायता के लिए लोगों से चंदा किया। उक्त सज्जन हमारे पास उपाश्रय में बैठे तत्त्व चर्चा कर रहे थे। उनसे भी निवेदन किया तो वे बोले–"मैं तो चंदा नहीं देता।" लोगों ने पूछा–"क्यों नहीं ?" तो बोले–"इस प्रकार के सेवादान का फल पुण्य होता है, पुण्य से स्वर्ग में जाना पड़ता है, वहाँ फिर बन्धन होता है, मुक्ति तो नहीं। मैं बंधन का काम नहीं करता।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे सेठ जी के तत्त्वज्ञान पर जरा हँसी आ गई। मैंने कहा–"तब तो आप घर के काम भी नहीं करते होंगे ? वे भी तो बन्धन के हेतु हैं। स्वर्ग के नहीं, नरक के। क्या आपने वह सब कुछ छोड़ दिया है ? और आपकी तरह यदि तीर्थंकर भी सोच लेते, तो किसी को दानादि का उपदेश भी नहीं देते, सारे संसार को, संथारा पचखा देते। देने से पुण्य ही हो, ऐसा कुछ नहीं है। आप निष्काम भाव से दीजिए। न फल की आकांक्षा हो, न यश और न नाम की ! बंधन तो तब होता है, जब आप उसके साथ अपनी कामना को जोड़ देते हैं। कामना का त्याग किया जाता है, कर्म का त्याग नहीं किया जाता। कर्म का त्याग किया जाए, तो संसार में बड़ी अव्यवस्था और गड़बड़ी फैल जाएगी। कर्म छोड़ देने से ही कोई अकर्म नहीं हो जाता। अकर्म होता है, कर्म में से कामना को निकाल देने से।"

वास्तव में बंधन है, तो मन से है। शरीर तो जड़ है, इससे क्या बंधन होगा ? किसी को डंडा मारा तो डंडे को पाप का बंध थोड़ा ही होगा और किसी भूखे को रोटी दी तो क्या रोटी को पुण्य होगा, कि उसका शरीर भूखे के काम में आ रहा है ? डंडा और रोटी तो जड़ हैं, उनके पास न चिन्तन है, न संकल्प है। पाप-पुण्य चित्त की वृत्तियों में होता है, शरीर की प्रवृत्तियों में नहीं होता, चित्त की वृत्तियाँ यदि निष्काम हैं, फल की इच्छा नहीं है, तो फिर उसमें से फल उत्पन्न ही नहीं होगा, न स्वर्ग और न नरक ! जब कर्म में से कामना समाप्त हो जाती है तो–

इहलोगासंसप्पाओगे।
परलोगासंसप्पाओगे ।।

न इस लोक की कोई अभिलाषा होती है, न परलोक के सुखों की कोई लालसा होती है, और फिर इसी अकर्मरूप कर्म की निष्पत्ति में ही मुक्ति का जन्म होता है। मोक्ष का द्वार सामने खुल जाता है।

मैं कह रहा था, आपसे कि कूणिक की उद्दाम लालसाओं में एक ज्वार उठा तो वह समय का इन्तजार नहीं कर सका, कि बाप अब कितने दिन का है ? और यदि हो भी तो क्या है, आखिर तो राज्य का उत्तराधिकारी वही है। बाप की भी आकांक्षाएँ पूरी होने दी जाएँ। वह भी आराम से, और शांति से परलोक की यात्रा करे। मन के कोने में कोई इच्छा दबी हुई है, कोई लालसा दुबक कर बैठी है, तो उसे भी पूरी कर ले। आखिर, अंतिम समय में तो मनुष्य कोई इच्छा या संघर्ष मन में लिए न मरे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत की पुरातन परम्परा :

भारत में पुरानी परम्परा रही है कि मरने से पहले पूछा जाता था कि कोई इच्छा बाकी तो नहीं रही है ? मतलब इसका यह था, कि मरते समय वह किसी प्रकार का मानसिक द्वन्द्व लेकर नहीं मरे, वह परलोक की यात्रा पर जाने वाला यात्री जलता हुआ न जाए, बल्कि मन को शांत व समाधिस्थ करके जाए।

हमारे यहाँ संथारा किया जाता है। संथारा का अभिप्राय क्या है—मनुष्य सब इच्छाओं, सब द्वन्द्वों और लालसाओं से मुक्त होकर समाधिपूर्वक देह त्याग करे। संसार की भौतिक वासनाओं में उसकी कोई इच्छा अटकी न रहे। संथारा करने से पहले आचार्य पूछा करते थे, कि "तुम्हारी कोई इच्छा तो बाकी नहीं है ? कोई द्वन्द्व तो मन में शेष नहीं है ?"

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य का मन बुढ़ापे में खूब प्रसन्न रहे, मरते समय उसकी भावनाओं में किसी प्रकार की आसक्ति, संघर्ष एवं लालसा न हो। मगर हम देखते हैं, कि कूणिक ने श्रेणिक को शांति से नहीं मरने दिया। उसको पिंजरे में एक पशु की तरह बंद कर दिया और स्वयं मगध के राज सिंहासन पर बैठ गया। पिता के वात्सल्य और माता की ममता से भी अधिक उसने सिंहासन को प्रतिष्ठा दी। साम्राज्य को महत्त्व दिया। बस, सिंहासन पर आते ही वह साम्राज्य-लिप्सा में बेताव हो उठा, तो आँधी और तूफान की तरह संसार पर छा गया। श्रावस्ती पर आक्रमण करके वहाँ का विराट् वैभव ध्वस्त किया और फिर वैशाली के गणराज्य पर टूट पड़ा। अपने नाना चेटक के साथ युद्ध किया और वैशाली के स्वर्गीय वैभव को धूलिसात् करने की चेष्टा की। जिस वैशाली के वैभव के बारे में बुद्ध ने कहा था कि "स्वर्ग के देवताओं को जो देखना चाहे, वह वैशाली के नागरिकों को देख ले।" इतना महान वैभव, एक राजा की क्रूर राज्य लिप्सा के सामने मिट्टी में मिल गया। कूणिक ने साम्राज्य का विस्तार करके सोचा होगा कि युग-युग तक संसार में मेरी कीर्ति गाथा अमर रहेगी। इतिहास उसके अद्वितीय शौर्य पर स्वर्ण-रेखाएँ खींचता रहेगा, पर कहाँ रहा उसका वैभव ? उसने जो विशाल प्रासाद खड़े किए, किले बनाए, आज उनकी क्या दशा हो रही है ? बहुतों का तो पता नहीं है, कहाँ भूमिसात् हो गए, और जो ध्वंसावशेष के रूप में बचे-खुचे खण्डहर हैं, उनमें आज दुनियाँ शौच के लिए जाती है। हमने राजगृह के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चातुर्मास में वहाँ देखा था, कि कूणिक के एक दिन के उस अजेय दुर्गम दुर्ग के खण्डहर पर एक जगह पुरातत्त्व विभाग ने पट्टी लगवा रखी है–"अजातशत्रु का किला।" पर, आज उसमें शूकर घूमते हैं, गधे चरते हैं, और लोग शौच के लिए जाते हैं ? क्या उसने कल्पना की थी, कि मेरे इस महान् दुर्ग में, जहाँ एक दिन बड़े-बड़े वीर सामंत भी आते, धूजते थे, वहीं एक दिन यों स्वच्छन्द शूकर घूमेंगे और गधे चरेंगे ! जनता शौच के लिए इस्तेमाल करेगी।

मैं आपसे कह रहा था कि कूणिक ने जिस राजसिंहासन को और जिस साम्राज्य को अपनी प्रतिष्ठा का आधार माना था, वह एकमात्र उसकी बहक थी, भूल थी। और उसका परिणाम भी कुछ तो उसी जीवन में उसे भुगतना पड़ा। श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् लोकापवाद से विह्वल होकर उसने राजगृह का त्याग करके चम्पा में जाकर अपनी राजधानी बसाई। और जीवन के अन्त में चक्रवर्ती बनने की उद्दाम लिप्सा के वश होकर तमिस्रागुफा के द्वार पर भस्म होकर वह इस संसार से सदा के लिए मिट गया।

भारत की संस्कृति, त्याग की संस्कृति :

इसके विपरीत जिन के जीवन में प्रतिष्ठा और महत्ता का आधार त्याग, चरित्र एवं प्रेम रहा है ; वे चाहे राज सिंहासन पर रहे, या जंगल में रहे, जनता के दिलों में बसे रहे हैं, जनता उन्हें श्रद्धा से सिर झुकाती रही है। भारतीय संस्कृति में जनक का उदाहरण हमारे सामने है। जनक के जीवन का आधार साम्राज्य या वैभव नहीं रहा है, बल्कि त्याग, तप, न्याय-निष्ठा और जनता की सेवा का रहा है, तो वह जनता का पूज्य बना है। जनता ने उसका नाम भी 'जनक' अर्थात् पिता रख दिया, जबकि उसका वास्तविक नाम और ही था। वह राजमहलों में रहा, फिर भी उसका जीवन-दर्शन जनता के प्रेम में था, प्रजा की भलाई में था। वह वास्तव में ही प्रजा का जनक अर्थात् पिता था।

मैं आपसे बता रहा था, कि हमारी संस्कृति धन, ऐश्वर्य या सत्ता की प्रतिष्ठा में विश्वास नहीं करती है। हमारे यहाँ महल और बंगलों में रहने वाले महान् नहीं माने गए हैं। रेशमी और बहुमूल्य वस्त्र पहनने वालों का आदर नहीं हुआ है, किन्तु अकिंचन भिक्षुओं की प्रतिष्ठा रही है। झोंपड़ी और जंगल में रहने वालों की पूजा हुई है और बिल्कुल सादे, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनने वालों पर जनता कुर्बान होती रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका में गए, तो एक साधारण संन्यासी की वेशभूषा में ही गए। लोगों ने उनसे कहा–"यह अमेरिका है, संसार की उच्च सभ्यता वाला देश है, आप जरा ठीक से कपड़े पहनिये।"

विवेकानन्द ने इसके उत्तर में कहा–"ठीक है, आपके यहाँ की संस्कृति दर्जियों की संस्कृति रही है, इसलिए आप उन्हीं के आधार पर वस्त्रों की काट-छाँट एवं बनावट के आधार पर ही सभ्यता का मूल्यांकन करते हैं। किन्तु जिस देश में मैंने जन्म लिया है, वहाँ की संस्कृति मनुष्य के निर्मल चरित्र एवं उच्च आदर्शों पर आधारित है। वहाँ जीवन में बाहरी तड़क-भड़क और दिखावे की प्रतिष्ठा नहीं है, बल्कि सादगी और सच्चाई की प्रतिष्ठा है।"

उपनिषद में एक कथा आती है, कि एक बार कुछ ऋषि एक देश की सीमा के बाहर-बाहर से ही कहीं दूर जा रहे थे। सम्राट को मालूम हुआ तो वह आया और पूछा-"आप लोग मेरे जनपद को छोड़कर क्यों जा रहे हैं ? मेरे देश में ऐसा क्या दोष है ?

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यो न मद्यपः
नानाहिताग्निर्ना विद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ?

मेरे देश में कोई चोर उचक्के नहीं हैं, कोई दुष्ट या कृपण मनुष्य नहीं रहते हैं, शराबी, चरित्रहीन, मूर्ख अनपढ़ भी मेरे देश में नहीं हैं, तो फिर क्या कारण है कि आप मेरे देश को यों ही छोड़कर आगे जा रहे हैं ?"

मैं सोचता हूँ, भारतीय राष्ट्र की यह सच्ची तस्वीर है, जो उस युग में प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ देखी जाती थी। जिस देश और राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता इतनी महान् होती है ; उसी की प्रतिष्ठा और महत्ता के मानदंड संसार में सदा आदर्श उपस्थित करते हैं। यही संस्कृति वह संस्कृति है, जो गरीबी और अमीरी दोनों में सदा प्रकाश देती है। महलों और झोंपड़ियों में निरन्तर प्रसन्नता बाँटती रहती हैं। आनन्द उछलती रहती है। जिस जीवन में इस संस्कृति के अंकुर पल्लवित-पुष्पित होते रहे हैं, हो रहे हैं वह जीवन संसार का आदर्श जीवन है, महान् जीवन है।

फरवरी, १९६८

जैन भवन
आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४ मानव तन है या मन ?

मनुष्य क्या है ? मनुष्य तन है या मन ? यह एक बहुत पुराना प्रश्न है। हमारे भारतीय मनीषियों ने कहा है, कि तन तो तन है, केवल भौतिक प्रकृति का पिंड है। जल, अग्नि, वायु और मिट्टी का खेल है। इसके अतिरिक्त इस शरीर के पास और कुछ नहीं है। जो कुछ है सर्वोपरि एक मन है। वही मनुष्य है। इसलिए कहा है "मननात् मनुष्यः।" जो मनुष्य मनन एवं चिन्तन करता है, सत्य, असत्य तथा हित-अहित का विश्लेषण करता है—मैं कौन हूँ ? मेरा क्या है ? और संसार में मेरा क्या कर्त्तव्य है ? मैं यहाँ क्यों आया हूँ ? क्या कर रहा हूँ ? और क्या करने जाऊँगा ? यह मनन-चिन्तन जो करता है, वास्तव में वही मनुष्य है। केवल शरीर का मनुष्य होने से कोई मतलब नहीं है।

हमारे भारतीय मनीषियों ने मनुष्य की महिमा का गुणगान किया है। **"माणुस्सं खु सुदुल्लहं"**। भगवान् महावीर ने कहा था, कि मनुष्य होना बहुत दुर्लभ है। कौन-सा मनुष्य होना दुर्लभ है, कठिन है ? शरीर का मनुष्य होना कोई कठिन नहीं है। आबादी इतनी भयंकर रूप से बढ़ती जा रही है, सारे विश्व की, कि परेशान हैं, आज के समाजशास्त्री एवं राष्ट्रनेता। प्रश्न यह है, कि क्या होगा, इस धरती पर मनुष्य का। इंसान जब इतना बढ़ जायेगा, तब इस भूमि पर काम करने को कहाँ जगह मिलेगी उसे ? भरण-पोषण के लिए कहाँ उत्पादन होगा ? कहाँ खाना मिलेगा ? कहाँ अनी मिलेगा ? बहुत बड़ी समस्या है। बेतुकी बढ़ती हुई जनसंख्या पर नियन्त्रण के लिए चारों ओर परिवार-नियोजन का हल्ला मच रहा है। इसका अर्थ यह है, कि शरीर का मनुष्य होना, कोई दुर्लभ नहीं है।

यथार्थ मनुष्य केवल मन का ही मनुष्य है। जिसका मन उदात्त है, उदार है, विशाल है, वही मनुष्य, मनुष्य है। मानव आकृति में तो नरक हैं, दैत्य हैं, दानव भी हैं। और, अनेक जलचर हैं, पशु भी हैं। क्या इतने पर से वे मनुष्य हैं ? यदि वे मनुष्य नहीं हैं, तो केवल अपनी मानव आकृति पर से मनुष्य ही मनुष्य कैसे हो सकता है ?

कुछ लोग कर्म तो करते हैं। हाथों से काम लेते हैं, शरीर से काम लेते हैं, लेकिन उसके साथ मन को पूरी तरह से जोड़ नहीं पाते हैं। जब तक मन को पूर्णतः कर्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रमा नहीं दिया जाता है, कर्म में रस आता नहीं है, आनन्द आता नहीं है। और जब आनन्द न आए कर्म का फल पूरी तौर पर मिल नहीं पाता है। इस दृष्टि से तन के साथ मन को जोड़ना आवश्यक है।

आज की स्थिति में मानव कर्म पथ पर जिस रूप में चल रहे हैं, वह मानवोचित नहीं है। बिना मन के कर्म भार हो गया है और भार ढोना पशु का काम है। भय से, लज्जा से, परिस्थितियों से, मजबूरी से तन को तो प्राप्त कर्मों में जोड़ देते हैं, लेकिन मन को बिल्कुल अलग रखते हैं। मन को उस कर्म के साथ जोड़ते नहीं हैं। इसका परिणाम यह है, कि कृतकर्म में जो ज्योति जलनी चाहिए, वह जल नहीं पाती। कृतकर्म में रस की जो धार बहनी चाहिए, वह रस की धार बहती नहीं है। सब का सब सूखा-सूखा-सा लगता है। निरानन्द, नीरस, निःस्वाद। न कर्म करने वाले व्यक्ति को कोई आनन्द मिलता है और न वह कर्म, जिस राष्ट्र के लिए, परिवार के लिए, समाज के लिए किया गया है, उस परिवार, समाज, राष्ट्र को ही कोई रस मिल पाता है। इसलिए भगवान् महावीर कहा करते थे, कि ज्ञान और कर्म का समन्वय होना चाहिए। आपके अच्छे कर्म में आपकी अच्छी चेतना मिल जानी चाहिए, और आपकी अच्छी चेतना में आपका अच्छा कर्म मिल जाना चाहिए। कर्म के क्षेत्र में जब तक यह भूमिका न आएगी, तब तक होने-जैसा कुछ भी होना-जाना नहीं है।

राष्ट्र का दुर्भाग्य है, कि यहाँ जो मनीषी हैं, मनीषी अर्थात् जो मननशील मन वाले हैं, जो बुद्धिजीवी हैं, वे उत्पादन एवं निर्माण के कार्य पथ से एक किनारे पर अलग पड़ गए हैं। उनके पास केवल मनन हैं, चिन्तन है, बुद्धि है। लेकिन कर्म के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वे एकांगी बन गए हैं। इसलिए उनका विकास हो तो कैसे हो?

दूसरी ओर श्रमिक हैं, जो कर्म में लगे हुए हैं। उनके पास श्रम के लिए केवल तन है, किन्तु बौद्धिक चेतना नहीं है, मन नहीं है। अतः कर्म में प्राण पैदा करने जैसी उनमें कोई वृत्ति नहीं है। इस कारण उनका भी कोई विकास नहीं हो रहा है। जब तक मानव के यह तन और मन दोनों परस्पर मिलेंगे नहीं, तब तक न व्यक्ति का विकास हो सकेगा, न समाज का और न राष्ट्र का।

जयशंकर प्रसाद ने इसी सन्दर्भ में कहा था–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न हैं,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से मिल न सके,
यह बिडम्बना है, जीवन की॥

जब तक ज्ञान और कर्म अलग-अलग दूर पड़े हैं, तब तक मानव मन की इच्छाएँ कैसे पूरी होंगी? यह अलगाव बिडम्बना है, जीवन की। मानवता के सर्वांगीण विकास के लिए इस बिडम्बना से अपने को मुक्त करना आवश्यक है।

हमारे भारतीय पुराणों में वर्णन है, कि समुद्र-मंथन के बाद प्राप्त हुए अमृत का बँटवारा होने लगा। देवताओं को अमृत बाँटा जा रहा था। राहु असुर था, उसको पता लग गया। उसने देवता का रूप धारण किया, और चुपके से देवताओं की पंक्ति में आकर बैठ गया। अमृत बँटते-बँटते पास आया, तो देवता के रूप में बैठे उसको भी अमृत मिल गया। राहु ने अमृत लेते ही तत्काल पीना शुरू कर दिया। इस पर चन्द्रमा ने आवाज लगाई, कि अरे यह तो देव नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि दैवी संस्कृति की परम्परा है, कि पंक्ति में उपस्थित सबको क्रमशः भोजन परोस देने के बाद जब प्रार्थना की जाय, कि भोजन करने की कृपा करें, तभी भोजन करना चाहिए। यह परम्परा नहीं है, कि एक को मिला, झट वह चट कर जाए, दूसरे को मिला बस वह चट कर जाए। भोजन परोसने वाले पंक्ति के आखिर तक पहुँच भी न पाए कि पीछे से लाओ, लाओ की पुकार शुरू होने लगे। ऐसा नहीं होता है, श्रेष्ठ एवं उच्च संस्कृति में। क्योंकि यह दैवी नहीं है, दानवीय संस्कृति है। राहु दानव था, अतः उसे ज्यों ही अमृत मिला, झट पी गया।

वह देवता नहीं है, यह उसकी संस्कृति से पता लग गया। परिणाम यह आया, कि वह पकड़ा गया और भगवान विष्णु ने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट दिया। सिर अलग हो गया, धड़ अलग हो गया। अब क्या था, एक दैत्य के दो दैत्य बन गए। बिना धड़ का मस्तक राहु बन गया और सिर कटा धड़ केतु बन गया। जिस समाज का मस्तष्क और धड़ अलग हो जाता है, वह राहु और केतु बन जाता है, देव नहीं हो पाता है। आज के बुद्धिजीवियों के पास चिंतन के लिए मस्तक तो है, पर कर्म करने के लिए धड़ नहीं है, शरीर नहीं है। श्रमजीवियों के पास कर्म के लिए धड़ अर्थात् शरीर तो है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर चिन्तन के लिए मस्तक नहीं है। स्पष्ट है, कि उक्त कथा के आधार पर कोरे बुद्धिजीवी राहु हैं ; और कोरे श्रम-जीवी केतु। राष्ट्र का विकास हो, तो कैसे हो ?

सही अर्थों में दिव्य मानव बनने के लिए मन की अर्थात् मनन की, चिन्तन की अपेक्षा है। तन से कर्म करना है, पर वह कर्म कैसा है, उसका क्या परिणाम हो सकता है, व्यष्टि और समष्टि के हित में वह हितकर है क्या, यह सब विचार कर लेना आवश्यक है। मनन ही कर्म में सौंदर्य लाता है। कर्म का विकास केवल श्रम पर आधारित नहीं है। श्रम की पृष्ठभूमि में रहे, यथोचित मनन पर आधारित है। मन (मनन) से जुड़े तन के श्रम में ही 'श्री' की उपलब्धि होती है। अतः तन नहीं, तन के साथ जुड़ा मन ही मनुष्य है। अतः ज्ञान और कर्म में, समन्वय की परम आवश्यकता है। दोनों के संतुलन से ही मानव का और जिस समाज में वह रहता है, उस मानव-समाज का भी कल्याण हो सकता है, विकास हो सकता है।

फरवरी, १९७७

वीरायतन
राजगृह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तेय दर्शन

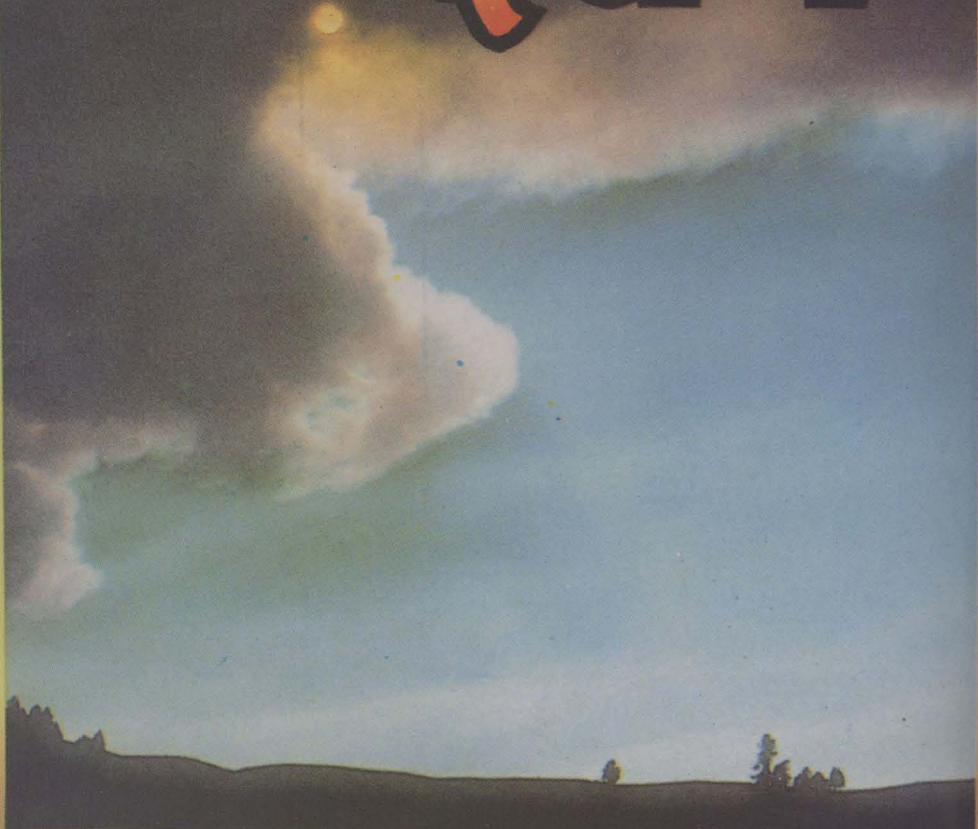

प्रवचनकार : राष्ट्र सन्त उपाध्याय अमर मुनि
सम्पादक : पं. विजय मुनि शास्त्री, साहित्य रत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org